Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९४.४
८१:४

6704

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगावें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
61.1
BHA—A
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या 94.4 / 891:4 आगत संख्या 6704

पुस्तक—वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित २० वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा १० पैसे के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आथर्वणिक राजनीति

DONATION

6704

पुस्तकालय

डा० भारतभूषण विद्यालंकार
एम० ए०, पी–एच० डी०

रीडर वेद विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

मयंक प्रकाशन
मिश्रा बाग कनखल (हरिद्वार)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आथर्वणिक राजनीति

डा० भारतभूषण विद्यालंकार

प्रकाशक :—
मयंक प्रकाशन
मिश्रा गार्डन
कनखल (हरिद्वार)

१४.४
२१:५

● डा० भारतभूषण विद्यालंकार

मूल्य : रु ११०.००

१९८९ ई०

मुद्रक :
विश्व विजेता प्रिंटर्स ज्वालापुर, हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राक्कथन

वेद मानव समाज की आदि सांस्कृतिक थाती है। इसीलिये विश्व की प्रत्येक सभ्य जाति अपने पूर्वजों का पता लगाने के लिये वेदों के ही अध्ययन एवं गवेषणा पर ध्यान देती है।

वैदिक ऋषियों ने विराट प्रकृति के उन्मेष को अपनी सक्षम आँखों से देखा और भावविभोर होकर उसका वर्णन किया। नाना वनस्पतियों के रस-रसायन, फटते बादलों में मुस्कराते प्रभात का वर्णन, स्वर्णिम रथ पर बैठी उषा का आगमन, निस्तब्ध हिमाच्छादित पर्वतों में शान्ति के उदके, कलकलनिनादिनी निर्झरिणी के दर्शन, पक्षियों के कलरव आदि तत्त्वों ने मनीषियों के मूक हृदयों में स्वयंभू द्वारा अनादिनिधना वाणी रख दी गई।

उन ऋषियों की दिव्य दृष्टि ने जहाँ प्रकृति के अनुपम सौन्दर्य को स्पृहा के साथ देखा, वहीं मानवीय समस्याओं के समाधान के रहस्यों का पता लगाया। परा और अपरा दोनों ही विद्यायें मनुष्यों को जाननी चाहियें। इसीलिये जहाँ आत्मा, परमात्मा सृष्टि के सम्बन्धी दार्शनिक चिन्तन दिखाई देते है, वहां मानवीय समाज को व्यवस्था, निर्माण, स्वास्थ्य, राज्य, कृषि अथवा जीवन के सभी अंगों पर हमारे वैदिक ऋषियों द्वारा यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। जो प्रकाश उस काल में जितना दीप्त एवं आवश्यक था, उतना ही दीप्त और कहीं अधिक आवश्यक आज के युग में भी है। विजय राज्य में महामन्त्री एवं सेनापति चतुर्वेदभाष्यकार आचार्य सायण तो कहते हैं कि पारलौकिक एवं ऐहलौकिक कल्याण करने वाले अथर्ववेद का मैं वर्णन करता हूँ।

प्रो० मैक्समूलर का वेद के संबंध में यह कथन सही नहीं है कि भारतीय कभी भी राष्ट्रीयता की भावना से परिचित नहीं थे। भारतीय मस्तिष्क को कार्य करने, रचना करने, एवं पूजा करने की स्वतंत्रता केवल धार्मिक एवं दार्शनिक क्षेत्र में मिली थी। भारत दार्शनिकों का राष्ट्र था। कुल मिलाकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्व इतिहास में कोई ऐसा दूसरा उदाहरण प्राप्त नहीं होता जहाँ समस्त लोगों के जीवन के पहलुओं को आत्मा संबंधी जीवन ने इतना आच्छादित कर लिया हो। असल में वे सभी विशेषतायें नष्ट हो गईं, जिनसे कि एक राष्ट्र इतिहास में अपना स्थान बनाता है।

ऐसी स्थिति में प्रत्येक भारतीय, जो इस प्रकार के मिथ्या दोषारोपण को दूर करने में समर्थ है, उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपने प्राचीन गौरवमय इतिहास को जाने और उपरोक्त दोषों का निराकरण करे। डा० भाण्डारकर का यह कथन सर्वथा उचित है कि किसी भी भारतीय को तब तक शिक्षित नहीं कहा जा सकता, जब तक कि वह अपने देश के इतिहास से परिचित न हो और उसे अपनी बौद्धिक एवं आध्यात्मिक प्राचीनता का मान न हो।

अथर्ववेद के नामों में से एक क्षत्रवेद तो स्पष्ट रूप से राजनीति के महत्व, राज्य, राष्ट्र, इत्यादि की और इंगित करता है। इसी प्रकार अथर्ववेद में राज्य-शासन संबंधी, विजय संबंधी, शत्रु, राष्ट्र, सभा, समिति आदि पर बहुत विस्तार से प्रकाश डाला गया है। वर्तमान समय में जब सम्पूर्ण देश एक विश्व सरकार की कस्पना करता है, वह कल्पना भी प्राचीन भारतीय ऋषियों की देन है। चक्रवर्तित्व के लिये अश्वमेघ यज्ञ प्रत्येक राजा का स्वप्न रहा है। शतपथ ब्राह्मण कहता है "राष्ट्रं वै अश्वमेघः, तस्माद्राष्ट्री अश्वमेधेन यजेत, अश्वमेधयाजी सर्वदिशो अभिजयति"। अर्थात् राष्ट्र ही अश्वमेध है, अतः राजा को अश्वमेघ यज्ञ करना चाहिये, क्योंकि अश्वमेघ यज्ञ करने वाला सम्पूर्ण पृथ्वी को जीत लेता है। इस प्रकार सम्पूर्ण पृथ्वी के नागरिकों को एक समान शासन, समान सुविधा एवं परस्पर सौहार्द पूर्वक रहते हुये उत्तम मनस्विता प्रदान करना उसका उद्देश्य था।

इस प्रकार का सार्वभौम राज्य विना सेना के तथा विना युद्धों के प्राप्त नहीं हो सकता। अतः नाना युद्धों एवं शत्रु–दमन संबंधी सूक्त हमें ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में तथा वेदों से प्रभावित उत्तरवर्ती साहित्य में प्राप्त होते हैं। युद्ध करते हुए मृत्यु का आलिंगन भी स्वर्ग के समान माना जाता था। इस शौर्य प्रदर्शन के लिये जीवन के प्रति ममत्व का कोई महत्व नहीं था। इसीलिये अर्जुन को युद्ध से उदासीन देखकर भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा कि रणभूमि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में मरण अमरत्व का स्वीकरण होगा । यदि जीत जाओगे तो भूमि के साम्राज्य का सुख भोग करोगे । क्षत्रिय के लिये इस प्रकार के युद्ध में, जहाँ धर्म एवं अन्याय के विरुद्ध आवाज उठानी हो, भाग न लेना निम्न कोटि का अनार्य कर्म समझा जाता था तथा उससे अपयश फैलता था । महाभारत एवं पुराणों में तो इस प्रकार के चक्रवर्ती राजाओं एवं अश्वमेधों का पर्याप्त वर्णन प्राप्त होता है ।

यह राज्य पद्धति भी वैदिक साहित्य एवं परतर साहित्य के आधार पर कई प्रकार की थी, ऐसा हमें विदित होता है । उदाहरण स्वरूप ऐतरेय ब्राह्मण में स्वराज्य, वैराज्य, मौज्य आदि अनेक प्रकार की पद्धतियों का वर्णन हमें मिलता है ।

इसी प्रकार राजा का चयन, उसका अभिषेक, युद्ध-गमन आदि से संबंधित अनेक सूक्त हमें संहिता ग्रंथों में प्राप्त होते हैं । उन सूक्तों के आधार पर सम्पूर्ण राजनीति का एक सुन्दर बिम्ब दिखाई देता है, जो बिम्ब अत्यन्त स्वच्छ एवं स्पष्ट है ।

इस प्रकार विश्व की प्रथम संस्कृति के संदेशवाहक दूत, ज्ञाननिधि, विश्व के आद्य ग्रंथ रत्नों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है । भारत के वर्तमान धर्म, दर्शन एवं चिन्तन को पूर्ण रूप से समझने के लिये भी वेदों का ज्ञान परमावश्यक है । परन्तु इस विषय को विस्तार से समझने के लिये अन्य स्वतंत्र ग्रंथ की आवश्यकता होयी ।

वैदिक संहिताओं में निहित ज्ञान-विज्ञान के समय की सीमायें लांघना असम्भव ही है । ये संहितायें अति प्राचीन काल से भारतीय धर्म, संस्कृति, सभ्यता एवं अन्य सभी प्रकार की विचारधाराओं का प्रेरणास्रोत रही हैं । वर्तमान समय में भी इनका उपयोग इस युग की समस्याओं के समाधान के लिये उपयोगी है । वर्तमान समय में जो राजनीतिक समस्यायें उत्पन्न होती रही हैं, उनका समाधान करने में यह प्रबन्ध उपयोगी होगा, लेखक यह आशा और विश्वास रखता है ।

—भारतभूषण विद्यालंकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० भारत भूषण द्वारा लिखित "आथर्वणिक राजनीति" ग्रंथ का प्रकाशन वैदिक साहित्य के अनालोचनात्मक अध्ययन में विशेष महत्व रखता है। प्रस्तुत ग्रंथ में विद्वान लेखक ने अथर्ववेद को मुख्य रूप से आधार बनाकर वैदिक शासन व्यवस्था के विभिन्न अङ्गों पर विस्तृत प्रकाश डाला है। यह व्यवस्था समाज और सामान्य जन के कल्याण और सुख शान्ति को स्थापित करने वाली तथा बढ़ाने वाली है। वर्तमान समय में भी यह उपादेय है।

प्रस्तत ग्रन्थ-लेखक का शोध-प्रबन्ध है, जो गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय द्वारा वेद विभाग में पी० एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ है तथा इसके प्रकाशन के लिए विश्वविद्यालय ने आर्थिक सहायता भो प्रदान की है।

मैं आशा करता हूँ कि यह ग्रन्थ भारतोय शासकों और राजनीतिज्ञों के लिए दिशा निर्देश का कार्य करेगा।

डा० कृष्ण कुमार
सेवानिवृत्त विभागाध्यक्ष, संस्कृत
गढ़वाल विश्वविद्यालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

	पृष्ठ संख्या
प्राक्कथन	(i–iii)
विषय–सूची	(v–vi)
प्रथम अध्याय —	1–52
ज्ञान की नित्यता	3
वेदों का महत्व	4
वेदों की संख्या	10
अथर्ववेद का महत्व	18
अथर्ववेद के नाना नाम	27
शाखाओं की दृष्टि से अथर्ववेद	35
नीति एवं राजनीति	45
राजनीतिशास्त्र का महत्व	49
द्वितीय अध्याय —	53–69
राज्य की उत्पत्ति	53
सत्य एवं धर्म पर आधारित लोक-कल्याणकारी राज्य	56
राज्य-शासन पद्धतियां	63
राष्ट्र एवं उसका विस्तार	66
नीतियाँ	68
तृतीय अध्याय —	70–107
राजा और राजत्व	70
राजा का चयन	77
अभिषेक	83
चक्रवर्तित्व	86

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा के कार्य	88
सभा व समिति	93
चतुर्थ अध्याय—	108–141
सेना	108
सेनापति	117
अपराध	120
शत्रु-शमन	123
आयुध	127
युद्ध संबंधी पदार्थ	132
उपसंहार—	142
सहायक ग्रंथ सूची	147–152

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम अध्याय

(क) वेदों का महत्त्व

(ख) वेदों की संख्या

(ग) अथर्ववेद का महत्त्व

(घ) अथर्ववेद के विभिन्न नाम एवं परिमाण

(ङ) शाखाओं की दृष्टि से अथर्ववेद

(च) नीति एवं राजनीति

(छ) राजनीतिशास्त्र का महत्त्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान की नित्यता–

प्रारम्भ से ही भारतीयों की यह मान्यता चली आ रही है कि सृष्टि के प्रारम्भ में मानव की उत्पत्ति के साथ ही उनके कल्याण की कामना से परमपिता ने जिस नित्य ज्ञान का उपदेश दिया था, उसके अनेक प्रमाण भारतीय साहित्य में उपलब्ध होते हैं। सभी धार्मिक ग्रंथों में यह बात स्पष्ट दिखाई देती है कि परमात्मा ने स्वयं या उनके किसी प्रतिनिधि ने मनुष्यों को ज्ञान प्रदान किया। ज्ञान का एक आधार है–शब्द। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी ज्ञान की भांति नित्य है। महाकवि कालिदास की यह उक्ति "वागर्थाविव सम्पृक्तौ"[1] सर्वथा समीचीन है। शब्द और अर्थ का सहभाव सदैव बना रहता है। उस ज्ञानमय परम योग में हो सम्पूर्ण देवों की स्थिति है।[2]

यह आदि एवं अन्तरहित ब्रह्मस्वरूपा शाब्दी शक्ति है, जो अर्थ के भावानुसार विवर्तित होती है। यह सम्पूर्ण लौकिक प्रक्रिया उसी से प्राप्त हुई है।[3] ऐतरेय ब्राह्मण ने भी 'न वै वाक् क्षीयते'[4] कहकर उस अक्षर ब्रह्म की नित्यता की पुष्टि की है। यही भाव 'शतपथ ब्राह्मण[5] में प्रतिपादित किया गया है। महाभारत ने भी आदि एवं अन्तरहित नित्य ज्ञान का प्रतिपादक ब्रह्म को कहा है। जिस दिव्य ज्ञान से सम्पूर्ण प्रवृत्तियां प्रारम्भ हुई।[6] वाक्यपदीय के रचयिता भी कहते हैं कि "वेद-शास्त्रज्ञ जानते हैं कि यह सम्पूर्ण शब्द का ही परिणाम है, क्योंकि छन्द-

---

1. कालिदास–रघुवंश 1.1
2. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।। ऋक1.164.39
3. अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम्। विवर्तंते अर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।। वाक्यपदीय-आगमकाण्ड सूत्र 1।।
4. ऐतरेय ब्राह्मण 5.16
5. शतपथ ब्राह्मण 8.1.2.9
6. अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वा प्रवृत्तयः।। महाभारत शान्तिपर्व 232.25

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मयी वेदवाणी से ही यह विश्व विवर्तित हुआ।[1] भगवद्गीता कहती है कि यह सम्पूर्ण कर्ममय जगत ब्रह्म से प्रादुर्भूत हुआ तथा वह ब्रह्म अक्षर से प्रकट हुआ।[2] स्वयं वेद की इस बारे में उक्ति है कि 'उसी यज्ञमय प्रभु से ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं छन्द की उत्पत्ति हुई।'[3] यह छन्द कौन-कौन से हैं इसका स्पष्टीकरण करते हुए आगे चलकर अथर्ववेद कहता है कि "गायत्री उष्णिक् अनुष्टुब्वृहती पंक्ति त्रिष्टुप् जगती' ही वे छन्द हैं।[4] यह छन्दोमयी वाक् ही वेद है। वह कौन है जिससे ऋचायें यजुष् और साम छीलकर लोम की भाँति निकाले गये हैं। अथर्व ही उसके मुखतुल्य है। यह सुख स्वरूप कौन है।[5] अर्थात् ज्ञान का आदि स्रोत ब्रह्म ही है।

वेदों का महत्व–

इस प्रकरण में भारतीय संस्कृति में वेदों के महत्व पर संक्षेप में विचार कर लेना अनुचित न होगा। मनु महाराज ने वेदों को सम्पूर्ण धर्मों का मूल ही कह दिया है।[6] इतना ही नहीं वे तो उसे 'परम प्रमाण'[7] कहते हैं। मनु स्मृति के श्लोक 2.13 की व्याख्या करते हुए कुल्लूक भट्ट अनेक प्रमाण उपस्थित करते हैं। उन्हें उद्धृत करना अनुचित न होगा। वे कहते हैं कि धर्म को जानने की इच्छा करने वालों के लिए श्रुति ही प्रमाण हैं। यदि कहीं स्मृति से उसका विरोध हो तो श्रुति ही

---

1. शब्दस्य परिणामोऽयं इत्याम्नाय विदोविदुः। छन्दोभ्य एवं प्रथमम् एतद् विश्वं व्यवर्तत ॥ वाक्यपदीय 1.121
2. भगवद्गीता 3.15
3. तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दो ह जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ अथर्व० 19.6.13
4. गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्वृहती पंक्तिस्त्रिष्टुब्जगत्यै ॥ अथर्व 19.21.1
5. अथर्व 10.7.20
6. वेदोऽखिलोधर्ममूलम् ॥ मनु 2.6
7. धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ मनु 2.13

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाण होगी ।[1] यही बात जावाल स्मृति,[2] भविष्य पुराण[3] तथा जैमिनी कृत मीमांसा शास्त्र[4] भी कहते हैं । श्रुति विरोधी स्मृति अनादरणीय होती है ।[5] मनु महाराज तो पितरों, देवों एवं मनुष्यों के लिए वेद को सनातन चक्षु कहते हैं ।[6]

आचार्य चाणक्य भी मनु के भावों को पूर्ण सहमति प्रदान करते हैं । वे कहते हैं कि 'वेदेतर धर्म धर्म नहीं है ।[7] याज्ञवल्क्य तो 'वेदों से अलग किसी शास्त्र को मानते ही नहीं हैं क्योंकि सभी शास्त्र वेदों से निकले हैं तथा वेद ज्ञान नित्य है ।[8] अत्रि ऋषि भी याज्ञवल्क्य मुमि के विचारों को अपने शब्दों में प्रकट करते हैं परन्तु वे उसे ममत्व से भी सम्बन्धित कर देते हैं । उनका कथन हैं कि 'वेद से श्रेष्ठ कोई शास्त्र नहीं है तथा माता समान कोई गुरु नहीं है ।[9]

ब्राह्मणकार तो स्पष्ट रूप से वेद के रचनात्व को बताते हुए कहते हैं कि उस'प्रजापति ने ही इन वेदों की रचना की ।[10] तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है कि 'भारद्वाज ने 300 वर्ष तक ब्रह्मचर्य पूर्वक वेद का अध्ययन

1. धर्मं च ज्ञातुमिच्छतां प्रकृष्टं प्रमाणं श्रुतिः । प्रकर्ष बोधनेन च श्रुति-स्मृतिविरोधे स्मृत्यर्थोनादरणीय इति भावः । मनुस्मति 2.13 को व्याख्या में कुल्लूक भट्ट, निर्णयसागर प्रैस बंबई पृ० 32
2. श्रुतिस्मृति विरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी ।। जावाल स्मृति (कुल्लूक भट्ट की टीका में)
3. श्रुत्या सहविरोधे तु, बाध्यते विषयं बिना ।। भविष्य पुराण (कुल्लूक भट्ट की टीका में)
4. विरोधेत्वन्पेक्षंस्यादसतिह्यनुमानम् ।। जैमिनीय मीमांसा शास्त्र 1.3.3
5. श्रुतिविरोधे स्मृति वाक्यमनपेक्ष्यम् अप्रमाणम् अनादरणीयम् । अस-तिविरोधे मूलवेदानुमानं इत्यर्थः ।। मनु. 2.13 में कुल्लूकभट्ट
6. पितृदेव मनुष्याणां, वेदश्चक्षु : सनातनम् । मनुस्मृति 94
7. न वेद बाह्योधर्मः ।। कौटिलीय अर्थशास्त्र 4.13
8. न वेदशास्त्रादन्यत्तु, किंचिच्छास्त्रं हि विद्यते निस्सृतं सर्वंशास्त्रं तु वेदशास्त्रात्सनातनात् ।। याज्ञवल्क्य स्मृति ।
9. नास्ति वेदात्परं शास्त्रं, नास्ति मातुः समो गुरुः ।। अत्रिस्मृति ।
10. प्रजापतिर्वा इमान् वेदानसृजत ।। ऐतरेय ब्राह्मण ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया तब इन्द्र ने पूछा कि यदि मैं अगला जन्म दूं तो तुम क्या करोगे ? भारद्वाज ने उत्तर दिया कि पुनः ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन करूंगा। तब इन्द्र ने तीन बड़े-बड़े पर्वत दिखाये और उनमें से एक मुट्ठी मिट्टी उठा कर कहा तुम वेदों को इतना सा ही समझ पाये हो क्योंकि वेद तो अनंत हैं।[1] उस अनन्त ब्रह्म का ज्ञान भी अनन्त ही है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में तो वेदों को परमात्मा का श्वास ही कह दिया गया है।[2] मुण्डकोपनिषद् में मानवीकरण करते हुये कहा गया है कि 'अग्नि ही उस परमेश्वर का शिरस्थानीय है। सूर्य एवं चन्द्र दो आँखे हैं, दिशायें ही श्रोत्र हैं। वाणी तो साक्षात् वेद ही है।[3] उससे ही ऋक, यजु एवं साम की दीक्षा प्राप्त होती है।[4] छान्दोग्योपनिषद् में कहा है कि 'देवों ने मृत्यु से भयभीत होकर ज्ञानकर्मउपासनामय वेदों का आश्रय लिया, उन्होंने अपने को छन्द रूप वेद मन्त्रों से आच्छादित कर लिया इसीलिये इन्हें छन्द कहा जाता है।[5]

महाभारतकार का कथन है कि "ईश्वर ने वस्तुओं के नाम और कर्म वेद के शब्दों से निर्मित किये। ऋषियों के नाम और ज्ञान भी प्रलय एवं सृष्टि के समय वेदों द्वारा दिये गये।[6]" यास्कमुनि अपने निरुक्त में 'पुरुष का ज्ञान अनित्य है इसलिये वेद में कर्मों का नित्य रूप में प्रतिपादन करते हैं।[7]

1. तैतिरीय ब्राह्मण 3.10.11.3
2. एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस। बृहदारण्यकोपनिषद् 4.5.11
3. अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ॥ मुण्डकोपनिषद् 2.1.4
4. तस्मादृचः साम यजुंषि दीक्षा। मुण्डकोपनिषद् 2.1.6
5. देवा वै मृत्यो बिभ्यतस्त्रयीं विद्याँ प्राविशन् ते छन्दोभिरच्छादयन्। यदेभिरच्छादयँस्त छन्दसां छन्दस्त्वम्। छान्दोग्योपनिषद् 1.4.2.
6. नाना रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम् वेद शब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः नामधेयानिचर्षीणां याश्चवेदेषुसृष्टयः। शर्वर्यन्ते सुजातानामन्येभ्यो विधतात्यजः॥ महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म पर्व अ 232.25:27
7. पुरुष विद्याऽनित्यवात् कर्म सम्पत्तिर्मन्त्रोवेदे। निरुक्त अ० 1, पाद-1

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शनों ने भी वेद के इस महत्त्व को स्वीकार किया है। कुछ दार्शनिक मन्तव्य उद्धृत करना उचित होगा। वैशेषिक दर्शनकार कणाद मुनि ने परमेश्वर का वचन होने से वेद की प्रामाणिकता स्वीकार की है।[1] तार्किक शिरोमणि न्यायदर्शनकार गौतम 'परमआप्त परमेश्वर कां वचन होने और असत्य, परस्पर विराध आदि दोष रहित होने से वेद को परम प्रमाण मानते हैं।[2] महाभारत में सांख्यकार कपिलमुनि के यह वाक्य दृष्टव्य हैं– "सभी के लिये वेद प्रमाण स्वरुप हैं। उन्हें बाद में नहीं बनाया गया। ब्रह्म पद वाच्य वेदों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये एक तो शब्द ब्रह्म वेद दूसरा पर ब्रह्म[3]" उसी प्रकरण में कहते हैं कि "शब्द ब्रह्म में जो निपुण है वही पर ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है।[4] योगदर्शनकार पंतजलि मुनि "परमेश्वर को नित्य वेद का ज्ञान देने के कारण सब पूर्वजों का भी गुरु कहते हैं।"[5] वेदान्त तो "परमेश्वर को ही वेद का उत्पत्ति कर्त्ता मानता है अतएव उसकी नित्यता सिद्ध करता है।"[6] वेदान्त के सूत्र'शास्त्रयोनित्वात्'की व्याख्या करते हुये महान दार्शनिक आचार्य शंकर कहते हैं 'ऋग्वेदादि शास्त्र अनेक विद्याओं से सम्पन्न हैं। दीपक की भांति सभी अर्थों एवं विद्याओं को प्रकाशित करने वाले हैं। अत: सर्वज्ञ ब्रह्म ही उनका कर्त्ता है क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई भी इस प्रकार सर्वगुण युक्त शास्त्रों (वेदों) की रचना कर सके यह संभव नहीं है।[7] जेमिनी मुनि अपने मीमांसा शास्त्र

1. तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। वैशेषिक दर्शन 1.1.3
2. मन्त्रायुर्वेद प्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्॥ न्यायदर्शन 2.1.67
3. वेदा:प्रमाणं लोकानां न वेदा: पृष्टत: कृता:। द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्॥ महाभारत शान्तिपर्व(मोक्षधर्मपर्व)अ० 27.1
4. शब्द ब्रह्मणि निष्णात: परं ब्रह्माधिगच्छति। वही 2
5. स एष पूर्वेषामपि गुरु कालेनानवच्छेदात्॥ योगदर्शन, समाधिपाद सूत्र 26
6. शास्त्रयोनित्वात् 1.1.3॥ नित्यत्वम्॥1.3.29॥ वेदान्तदर्शन
7. ऋग्वेदादे: शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपवृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थविद्योतिन: सर्वज्ञकल्पस्य योनि: कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यत: संभवोऽस्ति॥ वेदान्तदर्शन 1.1.3 को व्याख्या में शंकराचार्य॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में कहते हैं। "जो वेद की आज्ञा है वही धर्म है।[1] अर्थात् वेद विरुद्ध अधर्म है।

दर्शनों की इस परम्परा में गीता को छोड़ देना अनुचित ही है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं "कि धर्म कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म अर्थात् वेद से होती है। वह वेद अविनश्वर परमात्मा से उद्भूत होता है। इसलिये सर्वव्यापक परमात्मा को सदा यज्ञ क्रिया में प्रतिष्ठित समझो"[2] इस प्रकार श्रीकृष्ण भी वेदों को परमेश्वर से उत्पन्न मानते हैं। इस श्लोक का आचार्य शंकर कृत भाष्य भी दृष्टव्य है। "कर्म की उत्पत्ति वेद से,वेद की उत्पत्ति अविनाशी परमात्मा से हुई है। वेद साक्षात् परमात्मा से पुरुष के निश्वास की भांति प्रादुर्भूत हुआ अतः सर्वविद्याओं का प्रकाशक होने से उसे सर्वगत कहा है। सर्वगत एवं नित्य वेद यज्ञ विधि को प्रधानता से यज्ञ में प्रतिष्ठित है।"[3]

चारों वेदों के प्रसिद्ध भाष्यकार सायणाचार्य अपने अथर्वभाष्योपोद्घात में वेदों को अपौरुषेय एवं नित्य कहते हैं।[4] भाष्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण करते हुये पुनः कहते हैं कि "ये वेद जिसके श्वास तुल्य हैं जो वेदों से सम्पूर्ण जगत का निर्माण करता हैं उस विद्याओं के तीर्थ स्थान भूत

---

1. चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः। मीमांसादर्शन 1.1.2
2. कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
   तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म, नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ गीता 3.15॥
3. कर्म (ब्रह्मोद्भवम्) ब्रह्मवेदः स उद्भवः कारणं यस्य तत् कर्म ब्रह्मोद्भवं (विद्धि)जानीहि ब्रह्म पुनर्वेदाख्यम् (अक्षरसमुद्भवम्) अक्षरं ब्रह्म परमात्मा समुद्भवो यस्य तदक्षरसमुद्भवं ब्रह्म वेद इत्यर्थः। यस्मात् साक्षात्परमाख्यादक्षरात् पुरुष निश्वासवत् समुद्भूतं ब्रह्म तस्मात् सर्वप्रकाशकत्वात् सर्वगतम्। सर्वगतमपि सन्नित्यं सदा यज्ञविधिप्रधानत्वाद् यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ भगवद्गीता 3.15 भाष्य में शंकराचार्य॥
4. तस्मादपौरुषेयत्वान्नित्यत्वच्च कृत्स्नस्यापि वेदराशेः।
   सायणाचार्य अथर्वभाष्योपोद्घात् में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महेश्वर को मैं नमन करता हूं।"[1] महर्षि दयानन्द तो वेद के इतने कट्टर समर्थक हैं कि उन्होंने तो आर्यसमाज का तीसरा नियम ही यही बनाया कि "वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"

गुरु नानक तो गुरुग्रन्थ साहब में "वेदों को ईश्वर की कृति कहते हैं।[2] चारों वेदों की कीमत कोई नहीं बता सकता है।"[3]

वेद शब्द एवं व्युत्पत्तियाँ–

हमने अब तक प्राचीन विद्वानों के वेद सम्बन्धी मन्तव्य देखे जो कि भारतीय संस्कृति में वेदों का महत्व प्रतिपादित करते हैं। अब हमें वेद शब्द पर भी विचार कर लेना चाहिये।

वेद शब्द दो प्रकार से हमें प्राप्त होता है :

1– आद्युदात्त-वेद

2– अन्तोदात्त-वेद

पाणिनी ने भी (उच्छादि 6.1.160) तथा (वृषादि 6.1.203) दो गणों में वेद शब्द पढ़ा है। करण अर्थ में वेद अन्तोदात्त है। शेष सभी अर्थों में वृषादि गण का आद्युदात्त है। आद्युदात्त (वेद) शब्द के अर्थ में ऋग्वेद में एक स्थान पर भी नहीं आया है। चौदह स्थानों पर वेदः शब्द प्राप्त होता है परन्तु वह सर्वत्र धनवाची वेदस् शब्द है। अथर्ववेद में वेद शब्द दो बार वेद (ज्ञानमय, मन्त्रमय) अर्थ में आया है :–

1. एष मा तस्मान्मा हिंसीद् वेदः पृष्ठः शचीपते'[4]

2. वेद आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम् ॥[5]

---

1. यस्य निःश्वसितंवेदाः, यो वेदेभ्योऽखिलंजगत।
निर्ममे तमहं बन्दे, विद्यातीर्थं महेश्वरम् ॥ सायणाचार्य अथर्व भाष्य के मंगलाचरण में।
2. ओंकार वेद निरमए ॥ गुरुग्रन्थ साहब, रागरामकली, महला 1 ओंकार शब्द 1 ॥
3. सामवेद, ऋग जजुर अथर्वण। ब्रह्मे मुख माइया है त्रैगुण।
ताकी कीमत कीत कह न सकै को तिउ बोलै जिउ बोलाइदा ॥
गुरुग्रन्थ साहेब, मारुसोलहे। महला।, शब्द 17 ॥
4. अथर्ववेद 7.54.2 5. अथर्ववेद 15.3.7

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार यजुर्वेद में भी एक स्थान पर है :–

वेदे॑न रु॒पे व्य॑पिबत् सुतासुतौ प्र॒जाप॑तिः ।[1]

वैसे अनेक स्थानों पर वेदवाचक वाक्, गौः, वर्चस् आदि शब्दों का प्रयोग है ।[2]

वेद शब्द की व्युत्पत्तियों पर विचार करते समय हमें तैत्तिरीय-संहिता में प्राप्त होता है कि, "वेदेन वै देवा असुराणां वित्तं वेद्यम-विन्दत । तद् वेदस्य वेदत्वम्"[3] इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक कथा में कहा गया है कि "वेदिर्देवेभ्यो निलायत तां वेदेनान्वविन्दन् । वेदेन् विविदुः वेदिं पृथिवीम् ।"[4]

ऋषि दयानन्द ने वेद शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है– "विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते, विन्दन्ते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वान्सश्च भवन्ति ते वेदाः ।[5] इसके अतिरिक्त बहुत से विद्वानों ने इसका स्पष्टी-करण किया है परन्तु वह निम्न धातुओं से सिद्ध हो जाता है । विद् ज्ञाने, विद् सत्तायाम्, विद्लृ लाभे, विद् विचारणे ।

वेद की संख्या –

अंग्रेजी में वेदार्थक ज्ञान को Wit (to know) और लैटिन में Video (to see) इन पारिभाषिक शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है ।[6] इस तरह वेद न तो कुरान की तरह मात्र धर्म पुस्तक है और न ही बाइबिल की भाँति अनेक महापुरुषों की वाणियों का संग्रह मात्र ही । वह तो एक पूरा साहित्य है ।[7]

हम स्पष्ट देखते हैं कि वेदों का महत्व इतना अधिक है कि बाद में

---

1. यजुर्वेद 19.78
2. ऋग्वेद भाष्यभूमिका में जयदेवविद्यालङ्कार ।
3. तैत्तिरीय संहिता 1.4.20
4. तैत्तिरीय ब्राह्मण 3.3.9.69
5. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदोत्पत्तिप्रकरण ।
6. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास-वाचस्पति गैरोला पृ० 39-40
7. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास–वाचस्पति गैरोला पृ० 38.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस शास्त्र को भी ज्ञानमय एवं हितकारी समझा गया उनके साथ वेद शब्द जोड़ दिया गया और अनेक उपवेद भी मान लिये गये । उदाहरणार्थ गोपथ ब्राह्मण में सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद और पुराणवेद[1] का नाम हमें प्राप्त होता है । शतपथ ब्राह्मण में नो 10 वेद गिनाये गये हैं (शतपथ 13 4.3, 3–14) । नाट्यवेद की भी रचना कर दी गई ।[2] चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट को आयुर्वेद[3] नाम दे दिया गया । महाभारत को तो पंचमवेद कहा ही गया है ।[4] नारद संहिता को गान्धर्व वेद कहा गया है । इसके अतिरिक्त धनुर्वेद शिल्पवेद, ज्योतिवेद इत्यादि की अनेक चर्चाएं प्राप्त होतो हैं ।

इतना ही नहीं अनेक विद्वानों ने वेदों की सीमा को बहुत विस्तृत माना है ।[5] यही बात बौधायन गृह्यसूत्र[6] तथा कौशिकसूत्र[7] में भी दोहराई गई है । वृहदारण्यक के अनुसार इतिहास पुराण, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्या और अनुख्या भी अपौरुषेय है ।[8] अतः इस विचारधारा के अनुसार वेद, मंत्र एवं ब्राह्मण दोनों का ही नाम है ।

कात्यायन तथा शंकराचार्य भी मंत्र और ब्राह्मण को एक मानते हैं ।[9]

---

1. गोपथ ब्राह्मण 1.10
2. संकल्य भगवानेहं सर्ववेदाननुस्मरन् ।नाट्यवेदं ततश्चैकं चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् । भरतमुनि, नाट्यशास्त्र ।
3. हिताहितं सुखं दुखं आयुस्तस्य हिताहितम् । मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्चते । चरक सूत्रस्थान 1.40
4. वेदानध्यापयामास महाभारत पञ्चमान् । महा. शान्ति. 340.21
5. मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् । आपस्तम्व श्रौतसूत्र 24.1.31 सत्याषाढ़ श्रौतसूत्र 1.1.7
6. मंत्रब्राह्मणवेद इत्याक्षते । बौधायन गृह्यसूत्र 2.6.3
7. आम्नायपुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च । कौशिकसूत्र 1.3
8. वृहदारण्यक 2.4.10
9. वेदानुवचनेन=मन्त्र ब्राह्मणाध्ययने । वृहदारण्यकोपनिषदभाष्य । 4.4.12 शंकराचार्य ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री वाचस्पति गैरोला[1] तथा प्रसिद्ध योरोपीय विद्वान विण्टरनिट्ज के अनुसार भी "वेद से हमारा अभिप्राय हमेशा एक विपुल वाङ्मय से होता है।"[2]

दूसरी ओर वेदों के लिये प्रयुक्त त्रयी शब्द को संख्यात्मक मानकर ऋग्, यजुः और साम को ही वेद मानने वाले भी अनेक विद्वान हैं उनके अनुसार अथर्ववेद को वेद का महत्व बहुत बाद में प्राप्त हुआ। विण्टर-निट्ज के अनुसार "उनकी बुद्धि ठिठक गई, व इसे अपने प्राचीन धर्म ग्रन्थों में स्थान देने को तैयार न हुए। सो शुरु से ही अथर्ववेद की स्थिति कुछ अजीब सी रही है। प्राचीन वेदशास्त्र को 'त्रयी' विद्या कहने की प्रथा है। अथर्ववेद का परिगणन कई बार तो बिल्कुल होता ही नहीं और जब होता भो है तो हमेशा, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद का एक साथ नाम लेकर उनके बाद होता है। हैरानी तो यह है कि वेदों के साथ वेदांगों को, इतिहास पुराण को भी पवित्र माना गया है किन्तु अथर्ववेद का जिक्र तक (ऐसे स्थानों में) नहीं हुआ।"[3]

ऐतरेय ब्राह्मण कहता है कि "तीन वेद उत्पन्न हुए, अग्नि से ऋग्वेद उत्पन्न हुआ, वायु से यजुर्वेद और सूर्य से सामवद।"[4] यही बात शतपथ ब्राह्मण में भी कही गई है।[5] छान्दोग्योपनिषद् भी इन्हीं शब्दों का समर्थन करती है।[6]

एक अन्य विचारधारा के अनुसार वेद, संहिताओं का वाची है और वे संहितायें चार हैं क्योंकि जिन ग्रन्थों में हमें त्रयी कहकर वेदों का

---

1. संस्कृतसाहित्य का संक्षिप्त इतिहास—वाचस्पति गैरोला, वैदिक युग पृ० 37
2. प्राचीन भारतीय साहित्य, विण्टरनिट्ज (मोतीलाल बनारसीदास पृ० 42
3. प्राचीन भारतीय साहित्य, विण्टरनिट्ज (मोतीलाल बनारसीदास)
4. त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्नेरजायत। यजुर्वेदो वायोः सामवेदः आदित्यात्। ऐतरेय ब्राह्मण।
5. त्रयो वेदा अजायन्त अग्नेर्ऋग्वेदः वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः। शतपथ ब्राह्मण।
6. अग्नेऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात्॥ छान्दोग्योपनिषद्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाम प्राप्त होता है। उन्हीं में चारों वेदों का भी नाम प्राप्त होता है। छान्दोग्यापनिषद में ही नारद कहते हैं "भगवन् मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद चौथा अथर्ववेद. इतिहास, पुराण, पित्र्य, राशि, दैव निधि, वाकोवाक्य ऐकायन वेदविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या क्षत्रविद्या, नक्षत्र-विद्या, सर्पदेवजनविद्या पढ़ी हैं।[1] मुण्डकोपनिषद् भी चारों वेदों के नाम लेती है।[2] वृहदारण्यक में चारों वेदों के नाम गिनाये गये है।[3] स्वयं अथर्ववेद में चारों वेदों का नाम प्राप्त होता है।[4] अन्यत्र वृहदा-रण्यक में पुनः चारों वेदों का नाम लिया गया है।[5] गोपथ ब्राहमण "यही चार वेद हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद ब्रह्मवेद' कह कर इसकी पुष्टि करता है।[6] इसके अतिरिक्त अनेक स्थानों पर केवल अथर्वाङ्गिरोभि-र्ब्रह्मत्वम्' अथर्वाङ्गिरोविद् ब्रह्माणम" इत्यादि मंत्र खंड भी प्राप्त होते हैं। स्वयं ऋग्वेद अनेक स्थानों पर अथर्व का स्पष्ट उल्लेख करता है।[7] ब्राह्मण ग्रन्थों में भी स्पष्ट ही चारों वेदों का नाम प्राप्त होता है।[8]

महाभाष्य के पस्पशाह्निक में पंतजलिमुनि ऋग्वेद के चौथे मण्डल के अठावनवें सूक्त के "चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा" की

---

1. सहोवाच भगवोऽध्येमि ऋग्वेदं यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वण चतुर्थमि-तिहासपुराणं पञ्चमं वेदानांवेदं पित्र्य राशि, दैवं निधिं वाको-वाक्यमेकायनं वेदविद्यां बह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्याँ नत्रक्षविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि ।। छान्दोग्योपनिषद् 7.1.2
2. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्व वेदः। मुण्डकोपनिषद् 1.1 5
3. अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो-ऽथर्वाङ्गिरसः। वृहदारण्यक 4.5 11
3. यस्मादृचो अपातक्षन् यजुयस्मादपाकशन्। सामानि यस्य लोभान्य-ऽथर्वाङ्गिरसोमुखम्। अथर्ववेद 10.7.20
5. यदिदं किञ्चर्चा यजूंषिसामानि छन्दांसि। वृहदारण्यक 1.2.5
6. चत्वारो वाइमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः। गोपथ ब्राह्मण।
7. यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथतस्ते ।। ऋग्वेद 1.83.5। यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यांवाचं वदन्। ऋग्वेद 9.113.6
8. भेषजं वा अथर्वाणि। ताण्ड्यमहाब्राह्मण 12.9.10

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याख्या करते हुए "चत्वारि शृंगाः चत्वारो वेदा एव चत्वारि शृंगाणी" कहते हैं। आचार्य यास्क भी इसी व्याख्या को स्वीकार करते हैं।[1] गोपथ ब्राह्मण कहता है कि "एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्या सब्राह्मणा सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्यानाः सपुराणाः, सस्वराः, ससंस्काराः, सनिरुक्ता, सानुशासनाः सानुमार्जनाः,सवाकोवाक्याः।" अर्थात् कल्प, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास, अन्वाख्यान, पुराण, स्वर, संस्कार, निरुक्त,अनुशासन, अनुमार्जन और वाकोवाक्य, [2] इत्यादि को वेदों से पृथक गिना है। यदि ब्राह्मण ग्रन्थ भी वेद होते तो उन्हें पृथक गिनाने को आवश्यकता नहीं थी।

मनु महाराज भी दोनों को पृथक् मानते हैं। वे कहते हैं 'उपनीय तु यः शिष्यंवेदमध्यापयेद् द्विजः। सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।" यहाँ भी कल्प एवं रहस्य को वेद से पृथक् गिना गया है।[3] पंतजलि भी "चत्वारो वेदा साङ्गा सरहस्याः"[4] कहकर अपना अभिप्राय व्यक्त कर देते हैं।

सायणाचार्य कहते हैं "यद्यपि मंत्रब्राह्मणात्मकोवेदस्तथापि ब्राह्मणस्य मंत्र व्याख्यानरूपत्वान्मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः।" अर्थात् वेद, मंत्र ब्राह्मणात्मक कहा जाता है फिर भी वेद व्याख्यान होने से तथा प्रवचन की भाषा में होने से ही इन्हें वेद कह दिया गया है। परन्तु वास्तव में तो मंत्र ही प्रारम्भ में (ईश्वरोक्त होने से) वेद कहे गये।[5] अतः ब्राह्मणों को औपचारिक रूप से ही वेद कहा गया है। सर्वदर्शनसंग्रह के योगशास्त्रप्रकरण में माधवाचार्य लिखते हैं कि मंत्र दो प्रकार के होते हैं वैदिक और तान्त्रिक। इसो प्रकार मनुस्मृति की टीका में कुल्लूक भट्ट कहते हैं "श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च"[6] अर्थात् दो प्रकार की श्रुति हैं वैदिकी और तान्त्रिकी।

1. निरुक्त 13.8।
2. गोपथब्राह्मण पूर्व प्रपा० 2.10
3. मनु धर्मशास्त्र 2.140
4. महाभाष्य 1.1.1
5. तैत्तिरीय संहिता सायणभाष्य पृ० 7 आनन्दाश्रम पूना
6. मनुस्मृति 2.1 की व्याख्या में कुल्लूक भट्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कात्यायन के गुरु शौनक आर्षानुक्रमणी के प्रारम्भ में लिखते हैं, "ऋग्वेदमखिलं दृष्टारो ये हि मुनिपुंगवा:"[1] कह कर शौनक केवल मंत्रों के ही द्रष्टा देता है। इससे यह सिद्ध होता है कि शौनक के मतानुसार मन्त्र समूह ही अखिल ऋग्वेद था उसमें ब्राह्मण की एक पंक्ति भी नहीं थी। स्वामी दयानन्द ने भी कहा है "बहुभि: प्रमाणैर्मन्त्राणामेव वेदसंज्ञा न ब्राह्मणग्रन्थानामिति सिद्धम्।"[2]

इस प्रकार वेदों की संहिताओं की संख्या चार ही सिद्ध होती है। 'त्रयी' शब्द या 'त्रयं ब्रह्म' सनातनम इत्यादि वाक्यों से वेद का जो त्रित्व प्रतीत होता है वह रचनापेक्षया है। अर्थात् वेदों की रचना गद्य पद्य एवं गीत्यात्मक तीन प्रकार की है। सम्पूर्ण साहित्य इन तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है। पद्यात्मक रचना का नाम ऋक् है। गीत्यात्मक का साम और शेष अर्थात् गद्य यजु: शब्द से कहा जाता है और सरलार्थ को चौथा निगद कहा गया है।[3] अत: त्रयी शब्द से अथर्ववेद के वेदत्व पर आपत्ति ग्राह्य नहीं है। इसके अतिरिक्त, ज्ञान कर्म और उपासना के आधार पर भी त्रयी शब्द की व्याख्या की जा सकती है।[4] मनुस्मृति में कहा गया है कि अग्नि, वायु एवं आदित्य ने यज्ञ की सिद्धि के लिए ऋग्, यजु एवं साम लक्षण वाले वेद का दोहन किया।[5] तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है-"ऋचो यजूंषि सामानि अथर्वाङ्गिरसश्च ये" यहाँ भी स्पष्ट रूप से चारों वेदों का नाम लिया गया है।[6] इसी प्रकार

1. आर्षानुक्रमणी 1.1
2. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-वेदसंज्ञाविचार पृ० 99
3. तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु समाख्या। शेष यजु: शब्द:। निगदोवा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात्। मीमांसा सूत्र-2.1.35-38।
4. ऋच्यते स्तूयते अनया इति ऋच। यजति यजतेर्वा अनेन इति यज +उसि: यजुष: स्यति नाशयति विघ्न इति सामन् और समयति संतापयति देवान् अनेन इति सामन्। वाचस्पति गैरोला-सं० इति० पृ० 41-42
5. अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम्। दुदोह यज्ञ सिद्ध्यर्थं ऋग् यजुसाम् लक्षणम्। (मनुस्मृति–1-23)
6. तै०ब्रा० काण्ड3-प्रपाठक 12 अनुवाक-8 ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋग्वेद 8.60.9 में "पाहि नो अग्न एकया पाह्युत द्वितीयया पाहिगीर्भि-स्तिसृभिरुर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो" में क्रमशः ऋग् , यजुः, साम और अथर्व की वाणियों से रक्षा की प्रार्थना की गई है। यह मंत्र पूर्व के तीनों वेदों (साम 36, 1544, वा० य० 27.43) में हमें प्राप्त होता है। अतः तीन ही वेदों की सत्ता मानना उचित नहीं प्रतीत होता।

अथर्व का नाम सबसे पीछे आने का कारण उसका महत्व कम होना,या बाद में महत्व प्राप्त करना या हीनत्व नहीं है। अष्टाध्यायी के अनुसार कम स्वर वाले शब्द पहले और अधिक स्वर वाले शब्द बाद में रखे जाते हैं।[1] इस दृष्टि से अथर्व में ऋग् यजुः साम की अपेक्षा अधिक स्वर हैं जिससे उसका स्थान बाद में रखा गया है। इस आधार पर अथर्व को अर्वाचीन भी नहीं कहा जा सकता।

कुछ अन्य विचारों पर भी दृष्टिपात कर लेना अनुचित न होगा। निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य का कथन है कि वेद मूलतः एक था। उस दुरध्येय वेद को सुगम बनाने के लिए शाखाओं में विभाजित किया गया यह कार्य व्यास ने किया।[2] भास्कर भट्ट ने भी अपने भाष्य में ठीक इसी बात को दोहराया है। उसका कथन है कि मूल रूप में वेद मंत्र मिली जुली अवस्था में थे। भगवान व्यास ने लोकोपकारार्थ उनको विभाजित कर पुनः उनकी शाखायें भी नियत कीं।[3] इस प्रकार वेद न तीन थे न चार बल्कि सारे मंत्र एक साथ थे। अतः उनमें वे पौर्वापर्य भी नहीं हो सकता भाष्यकार महोधर के अनुसार "ब्रह्मा से वेद की जो परम्परा चली आ रही थी। उसको ग्रहण कर वेदव्यास ने मन्दमति मनुष्यों के लिये ऋग्, यजुः साम और अथर्व इन चार भागों में विभक्त कर उनका उपदेश क्रमशः पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमंतु को दिया।[4] परन्तु विष्णु पुराण एक अलग ही बात कहता है कि 'वेद आरम्भ से ही चतुष्पाद थे।

1. अष्टाध्यायी "अल्पाच्चतरम्"-2.2
2. निरुक्त की टीका में दुर्गाचार्य 1-20
3. वाचस्पति गैरोला (संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास पृ०-43
4. तत्रादौ ब्रह्म परस्परया प्राप्तं वेदं वेदव्यासो मन्दमतीन् मनुष्यान् विचिन्त्य तत्कृपया चतुर्धाव्यस्य ऋग्यजुसामाथर्वाख्यांश्चतुरो वेदान् पैलवैशम्पायन जैमिनिसुमन्तुभ्यः क्रमादुपदिदेश। यजु० भाष्य के प्रारम्भ में महीधर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् एक वेद की पहले ही चार संहिताएँ थीं। प्रत्येक द्वापर के अन्त में पुनः चार भागों में विभक्त किया गया। इस प्रकार का वेद विभाजन अब तक 28 बार हो चुका है। जिसने भी वेद-विभाजन का यह कार्य सम्पन्न किया उसी का नाम व्यास पड़ा।[1] मत्स्यपुराण में भी यही बात लिखी हुई है।[2]

वायु पुराण के अनुसार "युग बदलने पर युग के दोष से ब्राह्मण स्वल्पवीर्य हो गये हैं। सब कुछ न्यून होता चला जा रहा है। थोड़ा सा रह गया है। कृतयुग की अपेक्षा दस हजार मंत्र भाग बचा है। वेद का विनाश न हो जाये इसलिये वेद के भेद करने हैं। वेद का नाश हो जाने से यज्ञ और देव आदि सब नष्ट हो जायेंगे। पहला वेद चार चरण का था उसका परिमाण शत् सहस्त्र (1 लाख) था। उससे दस गुना यज्ञ (कर्मकाण्ड) था ऐसा सुनकर मनु ने चतुष्पाद वेद को चार भागों में बांट दिया।[3]

विष्णु पुराण के अनुसार "एक आद्य यजुर्वेद था उसको चार विभाग में बाँट दिया। उसका परिमाण शत् सहस्त्र अर्थात्(1लाख)एक लक्ष था।[4]

उपर्युक्त सभी विचारों पर चिन्तन करने के बाद(पुराणों के साक्ष्य को छोड़ कर क्योंकि इस पक्ष में अन्य कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं होते हैं) चार मूल संहितायें ही स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है। ऋग्वेद के शब्दों में कौन बुद्धिमान है जो वेद की योजनाओं को ठीक ठीक जानता है।[5] सायणाचार्य ने भी "ब्रह्मप्रजापतिर्धाता वेदाः सप्तऋषयोऽग्नयः" की व्याख्या में वेदाः सांगाश्चत्वारः लिखा है।[6] महाभारतकार भी चार वेद स्वीकार करता है।[7]

---

1. जातुकर्णोऽभवन्मत्तः कृष्ण द्वैपायनस्ततः। अष्टाविंशतिरित्येते वेदव्यासाःपुरातनाः। एकोवेदश्चतुर्धा तु यैः कृतो द्ववापरादिषु॥ विष्णुपुराण 3.3.19-20
2. वेदैश्चैकश्चतुर्धा तु व्यस्यते द्वापरादिषु। मत्स्यपुराण 144.11
3. ऋग्वेदभाष्य भूमिका में-जयदेव विद्यालंकार पृ० 15
4. विष्णुपुराण 3.6
5. कश्छन्दसां योगमावेदधीरः। ऋक् 10.114.9
6. अथर्ववेद 19.9.12 में सायणाचार्य
7. महाभारत द्रोणपर्व अ०51 "वैदैश्चतुर्भिः सुप्रीताः"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"इसलिये जिन विद्वानों का यह अभिमत है कि चार वेद गिनने की शैली नई है, वह सूत्रग्रन्थों के बाद की है। पुरानी गणना में ऋग्, यजु साम त्रयी ही गिनी जाती थी और जब सम्पूर्ण वेद गिनना होता है, तब त्रयी के अतिरिक्त अथर्व और इतिहास दोनों को एक ही दर्जे पर गिना जाता" उनकी यें बातें नितान्त कल्पित एवं आधारहीन हैं।[1]

अथर्ववेद का महत्त्व

"अथर्व वेद के देवताओं का स्वरूप भी स्वयं वेद की अर्वाचीनता सिद्ध कर देता है।"[2] साथ ही 'किन्तु इस बात से कोई यह निष्कर्ष न निकाल ले कि अथर्व वेद कुछ कम प्राचीन है। यद्यपि स्वयं भारतीयों ने इसे वेद के रूप में बहुत ही पीछे स्वीकार किया था।[3]" इत्यादि वाक्य अपने आपसी विरोध को स्वयं सूचित कर रहे हैं।

जो विद्वान यह मानते हैं कि 'अथर्ववेद बहुत बाद की, शतपथ ब्राह्मण के बाद की रचना है। उसका नामकरण ईरानी भाषा के शब्द अथ्रवन से हुआ और उसमें ईरानियों की तंत्रमंत्र विद्या का प्रभाव है' वे लोग बहुत ही भ्रम में हैं।[4]

अरबी भाषा के प्रसिद्ध पंडित और कुरानशरीफ के ज्ञाता सेलसाहब अपनी कुरान की भूमिका में लिखते हैं कि हजरत मुहम्मद ने अपने विश्वास यहूदियों से लिये हैं और यहूदियों ने पारसियों से। पारसियों के विश्वासों के संबंध में मार्टिन हॉग कहते हैं कि "पारसियों के पुराने साहित्य गाथा में महात्मा जरदुस्त एक पुराने ईश्वरीय ज्ञान को स्वीकार करते हैं। अथर्वा की प्रशंसा करते हैं और उसी अंगिरा की प्रशंसा करते हैं जिसका वेदों में वर्णन है' गाथा के जिस श्लोक में अंगिरा का वर्णन है वह यह है :–

स्पेन्तेम अतथ्वा मज्दा में गहीं अहुरा।
हयत मा वोहु पहरि-जसत् मनंगहा।
दक्षत् उष्या तुष्ना मइतिश वहिश्ता।

---

1. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास-गैरोला पृ.44
2. प्राचीन भारतीय साहित्य विन्टरनिट्ज पृ० 99
3. " " " " " पृ० 99
4. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास - गैरोला पृ० 44

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नोइत् ना पोउरुश द्रग्वतो ख्यात् चिक्नुषो ।
अत् नो वीस्पेंग अंग्रेंग अषाउना आदरे ।। गाथा य० 18•12

अर्थात् हे अहुरमज्द ! मैंने तुझे आबादी करने वाला जाना । जब तेरा संदेश लाने वाला अंगिरा मेरे पास आया तो उसने जाहिर किया कि सन्तोष सबसे अच्छी चीज है । एक पूर्ण मनुष्य कभी भी पापी को राजी नहीं रख सकता, क्योंकि वह सत्य का ही पक्ष करता है । इस श्लोक में अंग्रेंग शब्द अंगिरा के लिये आया है । अंगिरा अथर्व का ही वाचक है क्योंकि अथर्ववेद में लिखा है कि 'अथर्वाङ्गिरसोमुखम् ।[1]

अथर्ववेद की चर्चा स्थान स्थान पर हमें प्राप्त होती है । उसका महत्व प्रतिपादित करने वाले प्रमाण संभवतः ऋग्, यजु, साम से भी बहुत अधिक हैं । इन्हें भी यहां देखना उचित है । सर्वप्रथम संहिता ग्रंथों पर विचार करते हैं तो हमें अनेक स्थलों पर यज्ञों के प्रारम्भकर्ता के रूप में अथर्वा की स्थिति प्राप्त होती है । यथा "यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते" [2] हे अग्ने तुझे अथर्वा ने प्रथम मन्थन किया था ।"[3] "ब्रह्मज्ञान जिनमें श्रेष्ठ है ऐसे सब प्रकार के बल के उपदेश यहाँ इकट्ठे किये हैं ।"[4] ऋग्वेद में मधुविद्या का ज्ञानी आथर्वाणिक को ही बताया गया है । एक कथा के अनुसार "अश्विनीकुमारों ने अथर्ववेदी दधीचि के निमित्त अश्व के सिर को प्रेरित किया तो उसने उन्हें मधुविद्या का उपदेश दिया ।"[5] इसीलिये कहा है कि "देवों के बन्धु सबके पितृस्थानीय बृहस्पति रूप, वाणी के स्वामी अथर्वा को नमस्कार सहित प्राप्त हो ।"[6] "अथर्व का

---

1. वैदिक सम्पत्ति-रघुनन्दन शर्मा पृ० 442
2. अथर्व 20.25 5, ऋग् 10.92.10
3. ऋग् 6.16.13
4. ब्रह्म ज्येष्ठा संभृता वीर्याणि । अथर्व 19.22.21
5. आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम् । स वां मधु प्रवोचदृतायन् । ऋग्वेद 1.117.22
6. योऽथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिंनमसाव च गच्छात् । अथर्व 4.1.7

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञाता श्रेष्ठ सलाहकार होता है अतः उससे पूछकर कार्य करे। तदुपरान्त उसे दस रथ एवं सौ गौएं प्रदान करे।"[1]

अथर्व के ज्ञाता को गणों का भी जानने वाला कह दिया गया है। गणों को जानने वाले सब अंगिरों के प्रति हम उत्तमवाणी से बोलते हैं।[2] वह गणों को जानने वाला ही राजा को दीप्त करता है। अथर्वा का पुत्र दध्यङ् ऋषि शत्रु वध कर्ता, शत्रु के नगरों को तोड़ने वाले राजा को दीप्त करता है।[3] इस प्रकार अङ्गिरसों ने सर्वप्रथम शक्ति प्राप्त की थी।[4]

ऋत् को कहने वाले, सरल रीति से सोचने वाले, प्राणशक्ति से पुष्ट द्यु के पुत्र, विप्रपद धारण करने वाले अंगिरसों ने सर्वप्रथम यज्ञ के नियम मनन किये।[5] कवित्व तो मानो अथर्व की बपौती है। स्वयं ऋग्वेद इस बात को कहता है कि "आ गा आजदुशना काव्यः।।[6] तथा "य ते काव्य उशना मन्दिनम्।।"[7] शतपथ कहता है "वाणी स्वयं ही मानो दध्यङ् आथर्वण है।"[8] इसलिये ऋग् यजु एवं साम में निष्णात् होने बाद ही शिष्य को गुरु अथर्व वेद से सिंचित करे।[9]

ब्रह्मात्व :-

ब्राह्मण ग्रन्थों ने भी अथर्व की महिमा का गान किया है। "प्रजापति ने यज्ञ का विस्तार किया। ऋचाओं से होता का कार्य, यजुषों से

---

1. दश रथान्प्रष्टिमतः शतं गा अथर्वभ्यः । ऋग् 6.47.24
2. सर्वेभ्योऽङ्गिरोभ्यो विदगणेभ्यः स्वाहा।। अथर्व 19.22.18
3. तमु त्वा दध्यङ्ङृषिः पुत्र ईधे अथर्वणः। वृत्रहण पुरन्दरम्।। यजु० 11.33।
4. आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वय। अथर्व 20.25.4
5. ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः। विप्रंपदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त।। अथर्व 20.91.2
6. ऋग्वेद 1.83.5
7. ऋग्वेद 1.121.12
8. वाङ्वै दध्यङ् आथर्वणः। शतपथ 6.4.2.3
9. सवनं यज्ञः, यजुर्वेदः, मधुः ऋग्वेदः। धर्मः सामवेदः। तेषु निष्णातं शिष्यमथर्वणि सिञ्चेत। अथर्ववेदे व्युत्पादयेत। ऋग्-8.9.7 की व्याख्या मेंजयदेव विद्यालंकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

१४·४
८१:४
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

6704

से अध्वर्यु का, साम से उद्गाता का तथा अर्थवाङ्गिरस से ब्रह्मा का कार्य सम्पन्न हुआ। ऋग् यजुः और साम इन तीनों वेदो से यज्ञ का एक ही पक्ष संस्कृत होता है। परन्तु वह आथर्वणिक ब्रह्मा मन से ही यज्ञ के द्वितीय पक्ष को संस्कृत कर देता है।[1] अथर्ववेदीय ब्राह्मण होने से गोपथ ही इस बात को नहीं कहता है। अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में भी यह वर्णन हमें प्राप्त होता है। और लगभग इन्हीं शब्दों में प्राप्त होता है।[2]

ब्रह्मा कौन हो सकता है? इसका बहुत स्पष्ट वर्णन हमें गोपथ में प्राप्त होता है। "प्रजापति ने सोम से यज्ञ की इच्छा करते हुए वेदों से कहा मैं किसे होता, किसे अध्वर्यु, किसे उद्गाता और किसे ब्रह्मा के लिए वरण करुं, तो वेदों ने कहा ऋग्वेदज्ञ को होता चुनो। यजुर्वेद के ज्ञाता को अध्वर्यु, साम वेद के विद्वान को उद्गाता तथा अथर्वांगिरस के पारंगत को ही ब्रह्मा पद पर वरण करो। जो इस रहस्य को जान लेता है निश्चय ही उसका यज्ञ चारों लोको में, चारों देवों में, चारों वेदों में चतुष्पाद् होकर स्थिर हो जाता है। और वह यजमान उत्तम सन्तानों एवं पशु आदि से सम्पन्न होकर प्रतिष्ठित होता है।...... अतः अथर्वाङ्गिरोविद् को ही ब्रह्मा के रूप में वरण करो क्योंकि उसे ही ब्रह्मत्व का ज्ञान है।... यदि ऐसे पुरुष का ब्रह्मा पद पर वरण नहीं करते तो दक्षिण से ही इसका यज्ञ रिक्त रह जायेगा।[3] उस पुरुष का यज्ञ वैसा ही लंगड़ा होकर मार्ग

---

1. "प्रजापति यज्ञं अतनुत। स ऋचैव हौत्रम् अकरोद्। यजुषाध्वर्यवं साम्नौद्गात्रम् अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम्" 'इतिप्रक्रम्य' "स वा एषः त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्यान्यतरः पक्षः संस्क्रियते। मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति।" गोपथ ब्रा० 3 2

2 अयं वै यज्ञो .... । तद्वाचा त्रय्या विद्ययैकं पक्षं संस्कुर्वन्ति। मनसैव ब्रह्मा संस्करोति। ऐतरेय ब्राह्मण 5.33

3. अथ ह प्रजापतिः सोमेन यक्ष्यमाणो वेदानुवाच। कं वो होतारं वृणीयां, कमध्वर्युं, कमुद्गातारं, कं ब्रह्माणमिति। त ऊचुऋग्विदमेव होतारं वृणीष्व, यजुर्विदमध्वर्युं, सामविदमुद्गातारमथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणं, तथा हास्य यज्ञश्चतुर्षु लोकेषु चतुर्षु देवेषु चतुर्षु वेदेषु चतसृषु होत्राषु चतुष्पाद यज्ञः प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिर्य एवं वेद।...

(शेषांश अगले पृष्ठ पर)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में गिर जायेगा जैसे कि लंगड़ा पुरुष चलने पर गिर जाता है। जैसे एक पहिये वाला रथ नीचे गिर जाता है। इसी प्रकार इस पुरुष का यज्ञ भी निम्न गति को पहुंच जाता हैं।[1] ब्रह्मा जो उष्णीश धारण करता है वही अथर्व का रूप है।[2] उससे ही अथर्व का महत्व प्रतिपादित हो जाता है।

ब्रह्मा का पद ब्रह्म ज्ञानी का पद है और ब्रह्म ज्ञानी वही हो सकता है जो इस ब्रह्म वेद का ज्ञाता हो क्योंकि 'यही श्रेष्ठ वेद ब्रह्मज्ञों के तप से प्रकट हुआ[3] यह ऋग्वंगिरसों का ज्ञान स्वयं में पूर्ण एवं पर्याप्त है जो अंगिरस है वह ही अंगो का रस रूप आत्मा है। जो अथर्व कहता है वही भेषज है। वही अमृत है। जो अमृत है वही ब्रह्म है।[4] इतना ही नहीं जो ब्रह्मचर्यपूर्वक इस अथर्वांगिरस विद्या का अध्ययन करते हैं, इसके रहस्य को जान लेते हैं वह तो मानो सम्पूर्ण ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त कर लेते है।[5]

स्वयं ऋग्वेद में भी "ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां"[6] कहकर अथर्ववेद के ज्ञाता ब्रह्मा का स्पष्ट निर्देश किया गया है। इस मंत्र की व्याख्या करते हुये निरुक्तकार यास्काचार्य कहते हैं कि "अकेला ही ब्रह्मा स्थान-2

(शेषाँश पृष्ठ 21)
अथर्वाङ्गिरोविदमेव ब्रह्माण वृणोष्व स हि ब्रह्मत्वंवेद……। चेन्नैवं विदं ब्रह्माणां वृणुते, दक्षिणत एवैषां यज्ञो रिच्यते दक्षिणत एवैषां यज्ञोरिच्यते। गोपथ पूर्व प्रपाठक 2.24

1. यथैकपात् पुरुषो यन् अनुभय चक्रो था रथो वर्तमानो भ्रेषंन्येति एवमेवास्य यज्ञो भ्रेषंन्येति। गोपथ 3.2
2. एतद् वा अथर्वणो रूपं यद् उष्णीषी ब्रह्मा। गोपथ 2.19
3. श्रेष्ठो हि वेदस्तपसोधि जातो ब्रह्मज्ञानां क्षितये संबभूव। गोपथ 9.1
4. एतद् वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद्भृग्वंगिरसः, येङ्गिरसः स रसः। येथर्वाणस्तद् भेषजं। यद् भेषजं तद् अमृतम्। यदमृतँ तद् ब्रह्म। गोपथ 3.4
5. ब्रह्मचर्येण चैतस्मादथर्वांगिरसो ह यो वेदः स वेद सर्वमिति ब्राह्मणं। गोपथ 29.1।
6. ऋग्वेद 10.711

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर यज्ञ विद्या का कथन करता है। ब्रह्मा सर्वविद्य होता है क्योंकि वह सब कुछ जानने में समर्थ होता है। ब्रह्मा श्रुति से परिवृद्ध होता है। सब ओर से वृद्धि को प्राप्त होता है।[1]

इसीलिये ब्रह्मा को, अथर्ववेद के ज्ञाता को सबसे अधिक धर्मात्मा कहा गया है जैसे कि ऐतरेय ब्राह्मण कहता है :–

अथर्वक्षेत्रत्रान् ब्रह्मा, वेदेष्वन्यषु भागवान् ।
तस्माद् ब्रह्माणं धर्मिष्ठमि त ह्यारण्यकेश्रुतम् ।[2]

अथर्वा का महत्व इसी से जाना जा सकता है कि उसे प्रजापति तक कह दिया है 'सबसे पूर्व वह एक मात्र ब्रह्म ही था। उस स्वयंभू ने अपने को एकाकी देखा तथा द्वितीय देव का निर्माण किया। वह अथर्वा हो गया। उस अथर्वा को ब्रह्मा ने कहा कि हे प्रजापति प्रजा का निर्माण करके उनका पालन कर। प्रजा का पालन करने के कारण ही प्रजापति का प्रजापतित्व है। अथर्वा ही प्रजापति है।[3]

तैत्तिरीय आरण्यक में कहा गया है जो मनुष्य ब्रह्म यज्ञ में अथर्व के मंत्रों का पाठ करता है उसके पितरों की ओर मधु की नदियां बहती हैं।[4] काठक, शताध्ययन ब्राह्मण के ब्रह्मौदन प्रकरण में कहा गया है 'अथर्वण ब्रह्म के तुल्य है, चारों वेद उसके ही अंश भूत हैं। ब्रह्म का मूल वेद, तथा वेदों का मूल यही है। मुण्डकोपनिषद् 1.1.1 के अनुसार "ब्रह्मा ने सम्पूर्ण विद्याओं की प्रतिष्ठापक ब्रह्म विद्या को अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा के लिए दिया।

अन्य वेदों की तुलना में अथर्व का महत्व एवं विशेषता इससे भी सिद्ध होती है जहाँ पूर्व के तीन वेद परलोक को सुधारने वाले हैं वहाँ

---

1. ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति। ब्रह्मा सर्वविद्यः, सर्वं वेदितुमर्हति। ब्रह्मा परिवृढ, श्रुततो ब्रह्मपरिवृढं सर्वतः। निरुक्त 1.3
2. ऐतरेय ब्राह्मण 5.8
3. ब्रह्म वा इदम् अग्र आसीत् स्वयंभ्वेकमेव तद् ऐक्षत। मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्ममे। तदथर्वाभवत्, तमथर्वाणं ब्रह्मा अब्रवीत् प्रजापते प्रजाः सृष्ट्वा पालयस्वेति तस्मात् प्रजापतिरभवत्। तत् प्रजापतेः प्रजापतित्वम्। अथर्वा वै प्रजापतिः। गोपथ ब्राह्मण। प्रपाठक 1 खंड4
4. ...यद् अथर्वाङ्गिरसो मधोः कूल्याः। 'तैत्तिरीय आरण्यक 2.10.1

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथर्व वेद ऐहिक और पारलौकिक दोनों ही जगह लाभप्रद है। अन्य वेद जहाँ मोक्ष प्रदान करते हैं वहीं अथर्व धर्म, अर्थ एवं काम तथा मोक्ष सभी चतुर्वर्गफल प्राप्ति कराने वाला है। जैसा कि चतुर्वेद भाष्यकार आचार्य सायण का मत है।[1]

यह वेद जीवन के सभी संभव पहलुओं के निमित्त रचे गये मंत्रों का संकलन है। सभा या जनजीवन में सभी प्रकार की सफलता प्राप्ति, निर्वासित राजा के पुनरावर्तन, स्वास्थ्य और अपत्य प्राप्ति, प्रेम प्रसंग में प्रतिद्वन्दी का पराभव, सभी प्रकार का आमय अपसारण, धनप्राप्ति एवं इसी प्रकार की अन्य सिद्धियों की उपलब्धि के मंत्र इस संहिता में एकत्र किये गये हैं।········· उपयोगितावादी दर्शन का इस वेद में अभाव नहीं है।[2]

स्कन्दपुराण कहता है कि यदि कोई श्रद्धा सहित अथर्ववेद के मंत्रों का जाप करे। उन मंत्रों से उद्भूत सम्पूर्ण फलों को वह निश्चय ही अवश्य प्राप्त करता है।[3] अथर्व को जपने के बारे में काण्वसंहिता कहती है कि 'ऋचाओं से कथन करते हैं, यजुओं से यजन करते हैं। साम से स्तुति करते हैं और अथर्व से जप करते हैं।[4]

अथर्ववेद के मंत्रों की संप्राप्ति से सम्पूर्ण सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। उसमें तिथि, नक्षत्र, ग्रह, वार, चन्द्र आदि किसी भी मुहूर्त की आवश्यकता नहीं है।[5] बाल्मीकि रामायण में वर्णन आता है कि "मैं पुत्र की

---

1. व्याख्याय वेद त्रितयमामुष्मिक फलप्रदम्।
   ऐहिकामुष्मिक फलं चतुर्थं व्याकरिष्यति। सायणाचार्य। अथर्ववेद भाष्य की भूमिका पृ० 10
2. वैदिक धर्म एवं दर्शन—कीथ (अनु० सूर्यकान्त) पृ० 22
3. यस्तत्राथर्वणान् मन्त्रान् जपेच्छ्रद्धासमन्वितः।
   तेषां अर्थोद्भवं कृत्स्नं फलं प्राप्नोति स ध्रुवम्॥ स्कंदपुराण कमलालयखंड
4. ऋग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति अथर्वभिर्जपन्ति। काण्वसंहिता 40.7
5. न तिथिर्न च नक्षत्रं न ग्रहो न च चन्द्रमाः। अथर्व मंत्रसंप्राप्त्या सर्वसिद्धिर्भविष्यति। अज्ञात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कामना वाले तुम्हें पुत्र प्राप्ति के लिए अथर्ववेद के मंत्रों से विधिपूर्वक यज्ञ कराऊंगा।"[1] कौटिल्य भी अपने अर्थशास्त्र में कहते हैं कि 'अथर्व के मंत्रों से यज्ञ करे।[2] "न वेद बाह्यो धर्मः" अर्थात् वेद के विपरीत धर्म नहीं होता अतः 'कदाचिदपि धर्मं निषेवेत:[3] किसी भी प्रकार धर्म का पालन करना ही चाहिये। कहा भी है "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।" गुरु ग्रन्थ साहब में विचित्र नाटक अध्याय 4 में गुरु गोविन्द सिंह जो का वचन है कि "अथरववेद पठयं। सुनियो पाप नठियं।"[4] कि अथर्व वेद के पढ़ने व सुनने से सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं।

महाभारत में कहा गया है कि "अथर्ववेद के प्रवर याज्ञिक उत्तम मति वाले वे पद क्रमयुत संहिता की प्रेरणा करते हैं अर्थात् उसका पाठ करते हैं।"[5] किरातार्जुनीय में भारवि कहते हैं "कृतपदपंक्तिरथर्वणेव वेदः"[6] इसकी टीका में मल्लिनाथ लिखते हैं–अथर्वणा वासिष्ठेन कृता रचिता पदानां पंक्तिरानुपूर्वी यस्य स वेदः। चतुर्थवेद:इत्यर्थः। अथर्वणस्तु मंत्रोद्धारो वसिष्ठकृत इत्यागमः॥ रघुवंश महाकाव्य में कालिदास कहते हैं कि "आपव वसिष्ठ अथर्व निधि था।"[7] वृहन्नारदीय में भी यह उल्लेख प्राप्त होता है।[8]

राजनीति का तो अथर्व वेद मानो कोष है अनेकत्र इस प्रकार के प्रमाण हमें प्राप्त होते हैं कि राजा को चाहिये कि वह अथर्व वेद के ज्ञाता पुरोहित को रखे। पुरोहित को चाहिये कि वह अथर्ववेद के मंत्रों से ही राजा को अभिषिक्त करे।

---

1. इष्टितेऽहं करिष्यामि पुत्रीयां पुत्रकारणात्। अथर्वशिरसि प्रोक्तेर्मसिद्धां विधानतः। बाल्मीकि रामायण, बालकांड 8.6
2. "अथर्वभिश्च जुहुयात्" कौटिलीय अर्थशास्त्र।10.3.41
3. वही 413.414
4. गुरुग्रन्थ साहब, विचित्र नाटक अध्याय 4.4
5. अथर्ववेद प्रवराः पूययाज्ञिक संमताः। संहितामीरयन्ति स्म पदक्रमयुतां तु ते। महाभारत, आदिपर्व, शाकुन्तलोपाख्यान अ. 64.33
6. किरातार्जुनीय 10.10
7. रघुवंश महाकाव्य 1.59
8. वृहन्नारदीय 8.63

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विष्णु पुराण कहता है कि राजा शान्ति एवं पुष्टि कर्म, अथर्व के ज्ञाता पुरोहित से कराये तथा उसी को ब्रह्मा बनाये।[1] यही बात मत्स्यपुराण में भी कही गई है।[2] मन्त्र ब्राह्मण पारंगत अथर्व ज्ञाता को पुरोहित करे। मार्कण्डेय पुराण कहता है कि अथर्व के मंत्रों से अभिषिक्त राजा ससागरा मही का भोग करता है।

अथर्व परिशिष्ट तो यहां तक कहता है कि :—

यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वा शान्ति पारगः,
निवसत्यपितद् राष्ट्रं वर्धते निरुपद्रवम्।
तस्माद् राजा विशेषेण अथर्वाणं जितेन्द्रियम्।
दान संमान सत्कारैर्नित्यं समभिपूजयेत्॥[3]

महाभारत तो इससे भी आगे कहता है कि राजा को सारे ही कार्य अथर्व वेद से कराने चाहिये।[4]

कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में राष्ट्र में अथर्ववेदज्ञों के महत्व को बताते हुए कहते हैं 'सर्प के दंश या भय होने पर मंत्र औषधि का प्रयोग करें... या अथर्ववेद को जानने वाले संचरण करते रहें' इसी प्रकार राक्षस आदि के भय होने पर अथर्ववेदज्ञ माया युक्त कार्यों को करें।[5]

राजा को चाहिये कि वह दैवी आपत्तियों से रक्षा करने के लिये मायावेद अर्थात अथर्ववेद के जानने वाले सिद्ध तापसों को बड़े आदर से अपने देश में बसावें।[6] वे दैवी आपत्तियां चाहे अनावृष्टि हो या अति-

1. पौरोहित्यं शान्तिक पौष्टिकानि राज्ञाम् अथर्ववेदेन कारयेद् ब्रह्मत्वं च। बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति पृ० 149
2. पुरोहितं तथाथर्व मंत्र ब्राह्मण पारगम्। मत्स्यपुराण।
3. वैदिक साहित्य और संस्कृति प्र० संस्करण पृ० 149 प्र. सं.
4. महाभारत, शान्तिपर्व 73 5
5. सर्पभयेमन्त्रैरोषधीभिश्च।' 'अथर्ववेदविदोवाभिचरेयुः।'' रक्षोभये रक्षोघ्न्यान्याथर्ववेदविदो मायायोगविदो वा कर्माणि कुर्युः।
कौटिलीय अर्थशास्त्र 4.3,46-51
6. मायायोग विदस्तस्माद्विषये सिद्ध तापसाः।
वसेयुः पूजिता राज्ञा दैवापत्प्रतिकारिणः। कौटिलीय अर्थ० 4.3.55

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृष्टि या आसुरी सृष्टि, उसकी शान्ति के लिये अथर्ववेद में कही हुई विधि का प्रयोग करना चाहिये ।[1]

विण्टरनिट्ज ने अपनी पुस्तक प्राचीन भारतीय इतिहास में दाउसन को उद्धृत किया है । 'अथर्ववेद के दार्शनिक सूक्तों में कुछ अर्थ, कुछ संगति दिखाने के लिये दाउसन ने पूरा जीवन खपा दिया । दाउसन के अनुसन्धान के अनुसार अथर्ववेद 10.2, 11.8 का विषय मानव जीवन में ब्रह्म सिद्धि है । 10.2 में यह सिद्धि अगर आधिभौतिक रूप में अधिगत की जा सकती है तो 11.8 में आध्यात्मिक स्तर पर भी सुलभ है ।[2]

नाना माभ :-

इस अथर्ववेद के अनेक नाम हमें वैदिक साहित्य में प्राप्त होते हैं । 1. अथर्ववेद 2. ब्रह्मवेद 3. अंगिरोवेद 4. अथर्वांगिरसो वेद 5. भृग्वंगिरस वेद 6. क्षत्रवेद 7 भैषज्यवेद 8. छन्दोवेद 9. निगद इत्यादि

१- अथर्ववेद :-

गोपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि "शन्नोदेवी रभिष्टय" इस मंत्र से प्रारम्भ होकर अथर्ववेद पढ़ा जाता है ।[3] अथर्व शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए यास्काचार्य अपने निरुक्त में कहते हैं कि "अथर्वाणोऽथर्वणवन्तः । थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः"[4] इस व्युत्पत्ति में चित्तवृत्तिनिरोधात्मक, समाधि रूप चित्त की स्थिरता अभिव्यक्त होती है । परन्तु गोपथ ब्राह्मण 'अथ अवाग् एनं···अन्विच्छेति, तद्यदब्रवीदथार्वाङे नमेतास्वेवाप्स्वन्विच्छे-ति अथर्वाभवत"[5] अर्थात् बाहर से अपने मन को अपनी ओर मोड़कर, आत्मा का ज्ञान प्राप्ति रूप प्रयत्न ही अथर्व है ।

---

1. अवृष्टिरतिवृष्टिर्वा सृष्टिर्वा यासुरी भवेत् ।
   तस्यामाथर्वणं कर्म सिद्धारम्भाश्च सिद्धयः । कौटिलीय अर्थशास्त्र 9.7.99
2. विन्टरनिट्ज प्रा० भारतीय सा. प्रथम खंड पृ० 127
3. शन्नोदेवीरभिष्टये इत्यारभ्य अथर्ववेदमधीयते ।। गोपथ ब्राह्मण1.29
4. निरुक्त 11.2.13 5. गोपथ ब्राह्मण 1.4

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२- ब्रह्मवेद :-

अथर्व वेद में लिखा है "तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म च।"[1] यही बात गोपथ में प्राप्त होती है"चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेद"[2]। गोपथ में हमें अन्यत्र भी यह नाम प्राप्त होता है "श्रेष्ठो हि वेदस्तपसोऽधिजातो ब्रह्मज्ञानां हृदये संबभूव"[3] इसके अतिरिक्त अथर्वविद् को ही ब्रह्मापद पर वरण करने की बात कही गई है। इसलिये भी इसका नाम ब्रह्मवेद है। "बृहत्वाद्वृंहगत्वाद्वाब्रह्म"[4] यह इसकी स्पष्ट व्युत्पत्ति है।

३-४, अंगिरोवेद+भिषग्वेद :-

छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया हैं कि "अङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः"[5] इसी प्रकार बृहदारण्यक में कहा गया है कि "आङ्गिरसो ऽङ्गानां हि रसः"[6] गोपथ ब्राह्मण में आंगिरस एवं भेषज साथ ही पढ़े भी गये हैं। "एतद्वैभूयिष्ठंब्रह्म यद्भृग्वंगिरसः योंऽगिरसः स रसः। येऽथर्वाणस्तद्भेषजम्। यद्भेषजं तदमृतम्। यदमृतं तद्ब्रह्म"[7] शरीर में जो सप्तधातुमय रस है उसको आधार बनाकर की जाने वाली चिकित्सा आंगिरस चिकित्साकही जाती है और उस चिकित्सा संबंधी अनेक मंत्र हमें इस वेद में प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ-आथर्वणीरांगिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत। ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि"[8]उक्त मंत्र में आथर्वणीआंगिरसी दैवी मनुष्यज औषध चिकित्सा वर्णित की गई हैं। आयुर्वेद भी अपने को अथर्व से ही सम्बन्धित कहता है।[9] छादोग्य में कहा गया है कि "भेषज-

---

1. अथर्व 15.6.8
2. गोपथ ब्राह्मण
3. गोपथ ब्राह्मण 1.9
4. अथर्ववेद संहिता की भूमिका में सातवलेकर
5. छादोग्य 1.2.10
6. बृहदारण्यकोपनिषद् 1.3.8
7. गोपथ 3.4
8. अथर्व 11.4.16
9. चरक सूत्रस्थान 30.18

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति।[1] अर्थात् जिनमें वैद्यक शास्त्र विद् ब्रह्मा होता है ये भैषज्य यज्ञ कहाते हैं। सम्पूर्ण अथर्ववेद में स्थान स्थान पर अनेक रोगों व औषधियों का वर्णन हमें प्राप्त होता है।

५- भृग्वंगिरसो वेद :–

गोपथ बाह्मण में लिखा है कि "एतद्वैभूयिष्ठं ब्रह्म यद्भृग्वंगिरसः।[2] वेद कहते हैं आंगिरसो नः पितरोनवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोभ्यासः"[3] भृग्वङ्गिरसां ब्रह्मेति भृग्वङ्गिरसां ब्रह्मेति[4] । इस प्रकार स्थान-स्थान पर हमें भृग्वंगिरस यह नाम प्राप्त होता है।

६- अथर्वाङ्गिरसो वेद :-

बृहदारण्यक उपनिषद कहती है "अरेअस्य महतो भूतस्य निश्वसित-मेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस"[5]। ब्रह्मा वरण के प्रकरण में गपथ ब्राह्मण कहता है कि "अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम्। अथर्वाङ्गिरो-विद् ब्रह्मा-णम्"। स्वयं अथर्ववेद कहता है··· "अथर्वाङ्गिरसो मुखम्"[6] विन्टरनिट्ज के अनुसार भी अथर्व वेद का पूरा नाम 'अथर्वाङ्गिरस है।[7] महर्षि अथर्वा से संबंधित गोपथ ब्राह्मण में एक कथा वर्णित है, जिसके अनुशीलन से विदित होता है कि पुराकाल में स्वयं ब्रह्मा ने सृष्टि की उत्पत्ति के लिये कठिन तप किया। इस घोर तप के प्रभाव से अन्त में उनके तपःपूत शरीर से तेजस्वरूप दो जलधारायें निकलीं। एक धारा से अथर्वन दूसरी से अंगिरा की उत्पत्ति हुई। इन्हीं से अथर्वांगिरसों की उत्पत्ति हुई। इसी भृगु अथवा अथर्वन् और अंगिरा के वंशजों ने जिन मंत्रों का दर्शन किया उन्हीं का नामकरण अथर्ववेद, भृग्वंगिरसवेद या अथर्वांगिरस वेद हुआ।[8] श्री पं० सातवलेकर जी ने अपने अथर्व वेद

1. छान्दोग्य 4.17.8
2. गोपथ ब्राह्मण 3.4
3. ऋग् 10.14.6 यजु 19.50 अथर्व 18.1.58
4. अथर्वसर्वानुक्रमणी 19-वें कांड की समाप्ति पर।
5. बृहदारण्यक 4.5.11
6. अथर्व 10.7.20
7. प्राचीन भारतीय साहित्य भाग-1 खंड 1 पृ० 97
8. संस्कृत साहित्य का इतिहास–गैरोला पृ० 57 पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संहिता की भूमिका में स्पष्टीकरण दिया है कि "अथर्ववेदस्यास्य पर्यालोचनायां स्फुटतरं प्रतीयते, यदस्मिन् षट्सहस्त्र मंत्रसंघातमकेऽथर्ववेदे ऋषेरथर्वणो मन्त्रसंख्या 1768, ऋषे ब्रह्मणः 967, भृग्वङ्गिरसां च 670 वर्तते। अन्येषां ऋषीणां मंत्र संख्या त्वितोऽल्पीयस्येव ...। अतो अथर्व दृष्टमन्त्र संख्या भूयिष्ठत्वात् मंत्र संघातस्यास्य प्रथमं मुख्यं च नाम अथर्व वेदः इति। तैनेव यथा यथाक्रमं द्वितीयं ब्रह्मवेद इति तृतीयं-चांगिरसं वेद इति। एवं ऋषिप्राधान्यमनुरुध्य प्रसिद्धानि इमानि नामानीति युक्तमुत्पश्यामः। दृश्यन्ते च ऋग्वेदेऽपि माधुच्छन्दस, गार्त्समद-विश्वामित्र-वामेदव्यादयो मंडलानां संज्ञा ऋषिप्राधान्येनैवेति, नात्र किञ्चनासामायिकं मन्यामहे।"

७- निगद :–

मीमांसा में लिखा है कि "निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात्।[1]

८- क्षत्रवेदः-

जैसे कि चिकित्सा सम्बन्धी विवरणों के कारण इसे भैषज्यवेद की संज्ञा प्राप्त हुई है। इसी प्रकार श्री सातवलेकर के अनुसार इसका नाम क्षत्रवेद होना सर्वथा युक्तियुक्त है क्योंकि इसमें स्पष्ट ही राजनीति के अंग रूप राज्य, राज्यरक्षण, युद्ध इत्यादि का पर्याप्त विवरण हमें प्राप्त होता है।[2]

९- छन्दो वेद :-

स्वयं अथर्ववेद में कहा गया है कि "ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह"[3] यहां पर अथर्ववेद के लिए छन्दांसि शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। इसी प्रकार वेदों में उपलब्ध पुरुष सूक्त के प्रसिद्ध मंत्र (तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऽऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।[4] यहाँ भी छन्दांसि नाम का प्रयोग किया गया है।

1. मीमांसा दर्शन 2.1.38
2. सातवलेकर अथर्ववेद संहिता की भूमिका पृ० 5 पर
3. अथर्ववेद 18.4.24 पैप्पलाद शाखा
4. ऋग् 10,90.9 अथर्व 19.6.13। यजु 31.7

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छन्द नाम का कारण बताते हुए गोपथ ब्राह्मण कहता है कि "अथर्ववेद का चन्द्रमा देवता है वही ज्योति है। सभी प्रकार के छन्द हैं और जलस्थान हैं।"[1] सभी छन्द हमें अथर्व में ही प्राप्त होते हैं यह कथन उचित है। वृहदारण्यक उपनिषद् भी ऋग् यजुः साम के साथ छन्द का ही अथर्ववेद के लिये प्रयोग करती है।[2] ऋग्वेद भी ब्रह्मा के साथ छन्दोवाणी को जोड़ देता है और ब्रह्मा का वेद अथर्व है।अतः छन्द यहाँ अथर्व के ही पर्याय रूप में प्रयुक्त हुआ है। "यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां वाचं वदन्"[3] अर्थात् जहाँ यज्ञ में ब्रह्मा छन्दवाणी बोलता है। अतः छन्दोवेद अथर्ववेद ही है।

पारसी धर्म के प्राचीन धर्मग्रन्थ गाथा में भी अथर्ववेद को छन्द ही कहा गया है। इसीलिये पारसी धर्म का उपदेश जिस साहित्य द्वारा हुआ है वह भी जन्द अथवा जन्दावस्था कहलाता है। जन्द और जन्दावस्था छन्द और छन्दावस्था का ही रूपान्तर है। प्रो० मैक्समूलर कहते है कि "मैं विश्वास पूर्वक कहता है हूं कि जन्द शब्द संस्कृत के छन्द शब्द का ही अपभ्रंश है, जिसे पाणिनि और अन्य विद्वानों ने वैदिक भाषा के लिये कहा है।"[4]

परिमाण :—

अथर्ववेद की स्थिति, उसकी महत्ता, उसकी अन्य वेदों की तुलना में निर्माण काल की दृष्टि से, तथा उसके परिमाण पर भी विद्वानों में मतैक्य नहीं हैं।

---

1. अथर्वणां चन्द्रमा दैवतं तदेव ज्योतिः सर्वाणि छन्दांसि आपस्थानम्। वैदिक सम्पत्ति पृ० 441।
2. यदिदं किञ्चर्चा यजूंषि सामानि छन्दांसि॥ वृहदारण्यक उपनिषद् 1.2.5
3. ऋग्वेद 9.113.6
4. I still hold that the name of Zend was originally a corruption of the Sanskrit word (छन्दः) Chhanda, which is the name given to the language of the Veda by Panini and others (Chips from a German Workshop Vol. I, P. 84)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1- वेद सर्वस्व में स्वामी हरिप्रसाद प्रतिपादित करते हैं कि अथर्ववेद के केवल दस ही कांड हैं,बीस नहीं,उनके अनुसार अथर्व संहिता का आरम्भ "स्तुवानमग्ने" (शौनकशाखा के 1.7.1) से और उपसंहार "वशादेवा उपजीवन्ति" (10.10.3) मंत्र पर होता है। शेष दस कांड अंगिरोवेद परिशिष्ट हैं।[1]

इस मत पर विचार करने से विदित होता है कि स्वयं अथर्व वेद में दशम् कांड में ही सातवें सूक्त के बीसवें मंत्र (10.7.20) में ही "अथर्वाङ्गिरसोमुखम" कहकर अथर्व एवं अंगिरा दोनों के नाम से इस वेद की सत्ता को स्वीकार कर लिया है। जिसे गोपथ ब्राह्मण एवं बृहदारण्यक उपनिषद् भी दोहराती हैं जिसे कि हम अथर्वांगिरसोवेद नामकरण के प्रकरण में देख चुके हैं। अतः दस कांड के बाद पृथक् अंगिरोवेद तथा उससे पूर्व 10 कांड तक अथर्ववेद मानना उचित नहीं प्रतीत होता। यदि ऐसा माना भी जाये तो अन्तिम मंत्र 10.7.19 "यस्य ब्रह्ममुखमाहु" ही हो सकता है। उसके बाद ही स्वयं दस कांड तक 130 मंत्र हैं। उनकी स्थिति अस्पष्ट सी है और कोई भी अन्य प्रमाण इस पक्ष में प्राप्त नहीं होता है। अतः इसे स्वीकार करना असंभव है। श्री सातवलेकर भी दस काण्डात्मक अथर्ववेद को अस्वीकार करते हैं। "अथ यत्कैश्चिदुच्यतेऽयमथर्ववेदो दशकांडात्मक इति तन्न विचारसहम् प्रमाणाभावात्।[2]

2- कुछ विद्वान अथर्ववेद को अठारह काण्ड तक ही स्वीकार करते हैं। जैसा कि विन्टरनिट्ज कहते हैं: इनमें 20वां काण्ड बहुत पीछे जोड़ा गया और कभी 19 वां अध्याय भी पुस्तक का अंग नहीं था। बीसवें अध्याय के प्रायः सभी मंत्र ऋग्वेद में मिल जाते हैं।"[3]

कुछ विद्वानों के अनुसार 14वे काण्ड में विवाह का प्रकरण है तो अठारवें का विषय है-अत्येष्टि।[4] अतः अथर्ववेद को अठारह काण्ड पर्यन्त ही स्वीकार करना चाहिये।

---

1. वेद सर्वस्व स्वामी हरिप्रसाद पृ० 108
2. अथर्ववेद संहिता, भूमिका पृ० 6
3. विण्टरनिट्ज प्राचीन भारतीय साहित्य पृ०97 अनु० लाजपतराय
4. विण्टरनिट्ज प्राचीन भारतीय साहित्य पृ० 98

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त मत केवल कल्पना होने के कारण उचित प्रमाणों के अभाव में अधिक समर्थन न पा सका।

3- एक मत है कि अथर्व को 19 काण्ड पर्यन्त ही स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि 19 वें काण्ड के 64.4 में कहा है कि हमें दीर्घायु तथा हमारे आचार्य को अमृतत्व प्रदान करो।[1] इसी प्रकार 19 वें काण्ड के 71वें सूक्त के एक मन्त्र "स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानीद्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥ मंत्र में ग्रंथ समाप्ति का संकेत कर दिया है। इसके अगले ही मंत्र 19.72 अर्थात् 19वें काण्ड के अन्तिम मंत्र में तो स्पष्ट ही कह दिया है कि "जिस थैली से हम वेद को निकालते हैं, अध्ययन के उपरान्त उसी में रख देते हैं।"[2]

अथर्व सर्वानुक्रमणी में भी 19 वें काण्ड तक ही ऋषि, देवता आदि दिये गये हैं। वहाँ 19 वें काण्ड की समाप्ति पर "भृग्वङ्गिरसां ब्रह्मेति भृग्वंगिरसां ब्रह्मेति" यह द्विरुक्ति प्राप्त होती है जो निःसन्देह ग्रंथ समाप्ति की सूचक है और बीसवें काण्ड के प्रारम्भ में लिखा है, ऋषि दैवत छन्दांस्याश्वलायनानुक्रमानुक्रमिष्याम" अर्थात् 20वें काण्ड के ऋषि देवता आश्वालायन के क्रम अर्थात् ऋग्सर्वानुक्रमणी के आधार पर अनुक्रमित करेंगे।

पैप्लाद शाखा में 19 ही काण्ड हैं ! गोपथ में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है "शन्नो देवी रभिष्टय... इत्यारभ्य अथर्ववेदमधीयते[3], अर्थात् शन्नोदेवी रभिष्टय" मंत्र (शौनक 1.6.1) से अथर्ववेद प्रारम्भ होता है। 20वें काण्ड के लगभग सभी मंत्र ऋग्वेद के हैं शेष 127 सूक्त से 136 तक 147 मंत्र खिल या कुन्ताप हैं।

इस मत पर जब विचार करते हैं, तो कुछ शंकायें होती हैं। अथर्व सर्वानुक्रमणी पं० रामगोपाल जी ने लाहौर से प्रकाशित कराई है। चतुर्वेद भाष्यकार सायण ने अपने भाष्य में ऋषि देवता निर्दिष्ट नहीं किये हैं। अतः या तो सायण के समय यह उपलब्ध नहीं

1. आयुरस्मासु धेहयमृतत्वमाचार्याय। अथर्व 19.64.4
2. यस्मात्कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम्। 19.72.1
3. गोपथ 1.19

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी अथवा इसकी कोई प्रामाणिकता न देख कर सायण ने इसकी उपेक्षा कर दी हो। या तीसरी संभावना यह भी हो सकती है कि यह सायण भाष्य के बाद लिखी गयी हो। परन्तु यह ठीक प्रतीत नहीं होता।क्योंकि इसके रचयिता को यह भाष्य अवश्य देख लेना चाहिए था तथा सायण पर आधारित भी होना चाहिए था परन्तु ऐसा नहीं है। प्रथम काण्ड के दूसरे सूक्त में भाष्यकार कहते हैं "अस्य सूक्तस्येन्द्रदेवताकत्वात्" (1.2.2) परन्तु अनुक्रमणी में "द्वितीयं चांद्रमसं पार्जन्यम् (1.4) यह प्राप्त होता है। अतः प्रतीत होता है कि यह सर्वानुक्रमणी सायण को प्रामाण्य रूप में स्वीकार नहीं थी।

यह सर्वानुक्रमणी न तो व्यवस्थित ही है। अनेकत्र अनावश्यक पद भी भरे हैं यथा गायत्री छन्द के नित्य त्रिषाद् होने पर भी अनेक स्थानों पर "त्रिपदा गायत्री" कहा जाता है।

पैप्लाद संहिता के 19 काण्डों पर विचार करते समय कुछ विद्वानों का यह मत भी ध्यान देने योग्य है कि "पैप्पलाद संहिता के बहुत से स्थल इतने विकृत और व्याकरण के नियमों के विपरीत हैं कि उनको मूल वेद मानना ही असम्भव है।[1]

यदि "शन्नोदेवीरभिष्टय" को प्रथम मंत्र मान लें तो शौनक संहिता के इस मंत्र से पूर्व के 25 मंत्रों की स्थिति अस्पष्ट हो जाती है।

खिल या कुन्ताप नाम से प्राप्त होने वाले मंत्रों की स्थिति का भी कोई समाधान नहीं हो पाता है।

4- अथर्ववेद को 20 काण्ड तक माना जाये क्योंकि शौनक शाखा में 20 काण्ड उपलब्ध होते हैं और 20 काण्ड की यह परम्परा अविच्छिन्न है। क्योंकि कौशिक गृह्यसूत्र 20 काण्डों तक विनियोग बताता है तथा सभी भाष्यकार 20 काण्डों तक भाष्य भी करते हैं।

गोपथ में एक कथा है कि महर्षि भृगु के शिष्य अथर्वा के 20 पुत्रों द्वारा परम्परागत ज्ञान अथर्ववेद के 20 काण्डों तक विस्तृत हुआ।[2] प्रपंच हृदय में लिखा है" तथार्वणिकै पैप्पलाद शाखायां मंत्रो विंशति

1. पं० जयदेव विद्या—अथर्व भाष्य भूमिका में
2. गोपथ 1.5

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काण्ड: । तद्ब्राह्मणमध्ययाष्टकम्…… ।[1] अत: पैप्पलाद में 19 काण्ड मान कर शौनक के 20 काण्ड अनुचित या प्रक्षिप्त मानना अशोभनीय एवं अनुपादेय है ।

इस अध्ययन में भी शौनक शाखा को आधार बनाकर बीस काण्डों तक की चर्चा की गई है । इस प्रकार सम्पूर्ण अथर्ववेद में 20 काण्ड 711 सूक्त 5977 मंत्र हैं । जो भारतीय परम्परानुसार स्वीकार किये गये हैं । अथर्ववेद में पाठभेद बहुत पाये जाते हैं जैसा कि श्री सातवलेकर जी ने अपने अथर्ववेद संहिता (स्वाध्याय मंडल से प्रकाशित) के अन्त में प्रदर्शित किये हैं । इस प्रकरण में इसी ग्रन्थ को अध्ययन का आधार माना गया है ।

शाखाओं की दृष्टि से अथर्ववेद :—

व्यासमुनि महाभारत में लिखते हैं कि :—

"अपान्तरतमा नाम सुतोवाक्संभव: प्रभु:….।" …तेन भिन्नास्तदा वेदा: मनो: स्वायंभुवन्तरे ।।[2] अर्थात् वाग्देवी सरस्वती के पुत्र अपान्तरतमा ने स्वायंभुवमन्वन्तर में मूल वेदों को (शाखाओं में) विभाजित किया । वायु पुराण कहता है कि "वेद द्रुमश्च यं प्राप्य सशाख: समपद्यत"[3] महाभारत में अन्यत्र भी कहा है "भवन्तो बहुला:सन्तुवेदो विस्तार्यतामयम् ।।[4]

यह शाखा भेद वेदों का प्रवचन मात्र है। जैसा कि जैमिनि भी कहते हैं कि "शाखा का नाम प्रवचन के कारण ही पड़ा है ।[5] उदाहरणार्थ भ्रातृव्यस्य (यजु० 1.18) के स्थान पर द्विषत: (काण्वशाखा 1.3) शब्द रख देने पर अथवा सचिविदं (ऋ० 10.71.6) के स्थान पर सखिविदं (तैत्तिरीय आरण्यक 1.3.1) अथवा पुरोय: के स्थान पर परोक्षात् शब्द का प्रयोग[6] (अथर्व 19.15 6) अर्थ को स्पष्ट कर देते हैं ।

1. वैदिक वाङ्मय का इतिहास खंड 1 पृ० 329
2. महाभारत शान्तिपर्व अ० 349.39- 41
3. वायुपुराण अध्याय 1 श्लोक 45
4. महाभारत शान्तिपर्व अध्याय 335
5. जैमिनी—पूर्व मीमांसा 1.1.30 आख्या प्रवचनात् ।
6. वैदिकी—डा० मुन्शीराम पृ० 60

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐतरेय आरण्यक कहता है "यद्धि सन्धि विवर्तयति तन्निर्भुजस्य रूपं अथ यच्छुद्धे अक्षरे अभिव्याहरति तत्प्रतृण्णस्य"[1] अर्थात् जिसमें संधि ज्यों की त्यों बनी रहती है वह निर्भुज संहिता है और जिसमें संधि तोड़ कर पदों का पाठ होता है, वह प्रतृण्ण संहिता है। क्रमशः उदाहरण जैसे :-

अग्निमीऽडेपुरोहितम्, पदपाठ यथा अग्निम् ईडे पुरः हितम्।

उच्चारण भेद से भी शाखा भेद हो गया। यथा अनुष्टुप छारदी तैत्तिरीय संहिता (4.3.2) का अनुष्टुप शारदी। मूर्धन्य 'ष' के स्थान पर 'ख' का उच्चारण यथा– इषेत्वा : इखेत्वा।

मंत्र पाठ की विभिन्न शैलियों के कारण भी शाखा भेद हो गये। इन शैलियों में पद अपनी प्रकृति से बहुत दूर हो जाते हैं। वे पाठ विकृत वल्ली में इस प्रकार दिये गये हैं :-

"जटामाला शिलालेखाध्वजो दण्डो रथो धनः।
अष्टौविकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वामनीषिभिः।[2]

प्रत्येक वेदमंत्र या सूक्त पर उसके ऋषि, देवता, छंद का नाम लिखा रहता है। एक मंत्र या सूक्त के ऋषि, देवता, छन्द बदलने से भी शाखा भेद को प्रोत्साहन मिला होगा। जैसा कि शौनक ने वृहद्देवता में कहा है "देवतार्ष्यर्थ छन्दोभ्यो वैविध्यं तस्य जायते।[3] निरुक्तकार ने "यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्देवतः स मंत्रोभवति॥[4] तथा पतजंलि ने योगदर्शन में "स्वाध्यायात् इष्ट देवता सम्प्रयोगः॥[5] कहकर इसको स्पष्ट कर दिया है।

प्रवचन एवं अध्ययन विधि में कभी-कभी ऋषि अपनी व्याख्या या स्पष्टीकरण भी सम्मिलित कर देते थे तो वह संहिता पृथक् शाखा के रूप में प्रचलित हो जाती थी। तैत्तिरीय एवं मैत्रायणी शाखाएं इसका प्रमाण हैं। यदि वे अपने को शाखायें कहें तो कोई भी आपत्ति

---

1. ऐतरेय आरण्यक 3.13
2. विकृतवल्ली 1.5/वैदिकी पृ० 61
3. वृहद्देवता 1.14
4. निरुक्त 7.1
5. योगदर्शन 2.44

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं होनी चाहिए। परन्तु इन्हें मूल संहिता के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने इन शाखाओं एवं मूल के रूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "वेद की शाखायें न तो वृक्षों की शाखाओं की भाँति हैं न नदी की शाखाओं की भाँति हैं। प्रत्युत वे पठन पाठन भेद से सम्प्रदायजन्य अध्ययन का ही विशेष रूप है।"[1]

इसी को और अधिक स्पष्ट करते हुए महाभाष्यकार पतजंलि कहते हैं–"न नु चोक्तं नहि छन्दांसि क्रियन्ते। नित्यानि छन्दांसीति। यद्यप्यर्थो नित्यः यत्वसौ वर्णानुपूर्वी सा अनित्या। तद्भेदाच्च एतद्भवति काठकं, कापालकं, मौदकम्, पैप्पलादकम् इति।[2] छन्द अर्थात् वेद नित्य हैं परन्तु वर्णानुपूर्वी अनित्य हैं, वह काठक, कापालक, मौदक, पैप्पलादक आदि शाखाओं के रूप में प्रचलित हैं।

चारों वेदों की शाखायें बताते हुए महाभाष्य में पतंजलि कहते हैं कि "नवधाथर्वणोवेदः"[3] इन नौ शाखाओं के बारे में आथर्वण परिशिष्ट चरण व्यूह में लिखा है कि "तत्र ब्रह्मवेदस्य नवभेदा भवन्ति। तद्यथा-पैप्पलादाः। स्तौदाः। मौदाः। शौनकीयाः। जाजलाः। जलदाः। ब्रह्मवदाः। देवदर्शचारणवैद्याः चेति। इस सम्बन्ध में एक अन्य व्यूह का पाठ है–पिप्पलाः। शौनकाः। दामोदाः। तोत्तायनाः। जाबालाः। कुनखी। ब्रह्मपलाशाः। देवदर्शी। चारणविद्याः चेति। प्रपंच हृदय में लिखा है–"नवैवाथर्वणस्य··· आथर्वणिकाः, पैप्पलाद-योद-तोद-मोद-दायढ-ब्रह्मपद-शौनक-अङ्गिरस-देवर्षि शाखाः।[4]

वायुपुराणः 61/49-53, ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्वभाग, दूसरा पाद 35/55-61 तथा विष्णुपुराण 3/6/9-13 के अनुसार अथर्ववेद का शाखाभेद निम्न रूप से प्रदर्शित किया जा सकता है।

1. "तत्त्वतो नहि वेद शाखा वृक्ष शाखेव नापि नदीशाखेव प्रत्युताध्येतृभेदात् सम्प्रदाय भेद-जन्याध्ययन विशेषरूपैव" पं० सत्यव्रत सामश्रमी ऐतरेयालोचन में। पृ० 125
2. महाभाष्य
3. महाभाष्य, पस्पशाह्निक
4. वैदिकवाङ्मय का इति. खंड 1/अध्याय 17 पृ० 327

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

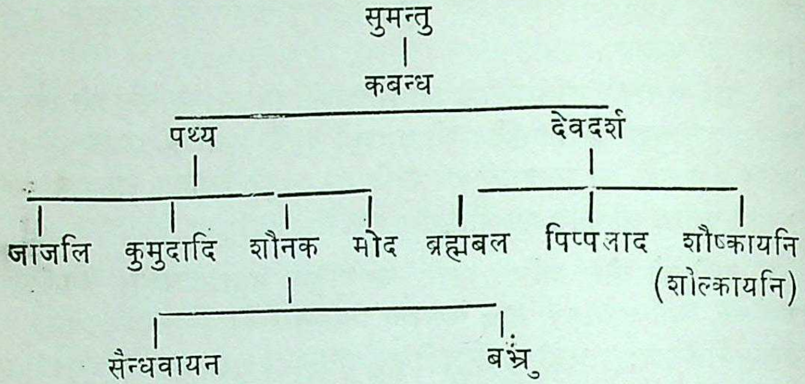

अहिर्बुध्न्यसंहिता के अनुसार "साम्नांशाखाः सहस्त्रांस्युः, पञ्चशाखा ह्यथर्वणाम् ।[1] तथा इसी ग्रंथ में अन्यत्र भी यही कहा है "अथर्वाङ्गिरसोनाम पञ्चशाखामहामुने ॥[2] परन्तु स्कन्दपुराण में 12 शाखाये बताई गई हैं ।[3]

सभी नामों पर दृष्टिपात करने पर यह नौ नाम शुद्ध समर्थित प्रतीत होते हैं ।

पैप्पलादाः, मौदाः, शौनकीयाः, जाजलाः, देवदर्शाः, चारणविद्याः या चारण वैद्याः । स्तौदाः या तौदाः । ब्रह्मवदाः या ब्रह्मवलाः,जलदाः ।[4]

(क) पैप्पलाद :–

प्रपन्चहृदय के अनुसार इसमें बीस काँड हैं और उसके ब्राह्मण में आठ अध्याय हैं। इसका प्रथम मंत्र "शन्नोदेवीः" माना गया है । गोपथ ब्राह्मण की भी यही स्वीकृति है ।[5]

ह्विटनी का मत है कि पिप्पलाद अथर्ववेद में शौनकीय अथर्ववेद की अपेक्षा ब्राह्मण पाठ अधिक है तथा अभिचारादि कर्म भी

1. अहिर्बुध्न्यसंहिता अध्याय 12 श्लोक 9
2. अहिर्बुध्न्यसंहिता अध्याय 20 श्लोक 21
3. स्कन्द पुराण, वैदिक वाङ्मय पृ० 327 पर उद्धृत
4. वैदिक वाङ्मय का इतिहास पृ० 327
5. गोपथ ब्राह्मण 1.29

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक हैं।[1]

(ख) स्तौदा :–

सायण अपने अथर्ववेद भाष्य के उपोद्घात के अन्त में इसे तौदा: शब्द से कहते हैं। मज्झिम निकाय के अनुसार तथागत के काल में कौशल देश में तोदेय्य या तौदेय्य ब्राह्मण बहुत थे।[2]

(ग) मौदा :–

इसका केवल नाम ही प्राप्त होता है। अथर्व परिशिष्ट जलदों एवं मौदों की निन्दा करते हुए कहता है "पुरोधा जलदो यस्य मौदो वा स्यात्कदचन। अब्दाद्दशभ्यो मासेभ्योराष्ट्रभ्रंशं स गच्छति ॥[3]

(घ) शौनकीया :–

इसे आचार्य संहिता तथा आर्षी संहिता भी कहा गया है। पञ्चपटलिका 5.19 में कहा है–"आचार्य संहितायां तु··· ॥ कौशिक सूत्र 8.21 पर टीका करते हुए दारिल कहते हैं :–

"पुनरुक्त प्रयोग: पञ्चपटलिकायां कथित:। आर्षीसंहिताया: कर्मसंयोगात् आचार्यसंहिताभ्यासार्था।"

इसे ही मूल अथर्व कहना श्रेयस्कर होगा। काण्ड रचना के सम्बन्ध में मारिस ब्लूमफील्ड और ह्विटनी की कल्पना है कि इसके अठारह काण्ड तीन भागों में बाँटे जा सकते हैं।

प्रथम भाग	1 – 7 काण्ड
द्वितीय भाग	8 – 12 काण्ड
तृतीय भाग	12 – 18 काण्ड।

परन्तु छोटे सूक्त 11 काण्ड तक ही सीमित हैं। अत: पञ्चपटलिका के अनुसार 1 – 7, 8 – 11 तथा 12 – 18 काण्ड तक यह विभाजन अधिक मान्य है।

1. "The Kashmirian text is more rich in Brahmana passage and is charms and in cantations than in the the vulgate." Whitneys translation of the Atharvaveda Introduction. P. L. XXX
2. मज्झिमनिकाय 2.5.10
3. अथर्व परिशिष्ट 25 वैदिक वाङ् पृ॰ 335

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ङ) जाजला :–

पाणिनीय सूत्र 6.4.144 पर महाभाष्यकार वार्तिकानुसार जाजला: प्रयोग पढ़ते हैं। ब्रह्माण्ड पुराण कहता है "स प्रधाना: प्रवक्ष्यन्ते समासाच्चश्रुतर्षय: । बह्वृचो भार्गव: पैल: सांकृत्यो जाजलिस्तथा ॥[1]

(च) जलदा :–

यह शाखा निन्दित सी कही गयी है "कि जो राजा जलदशाखीय ब्राह्मण को पुरोहित बनाता है उस राजा का राज्य शीघ्र नष्ट हो जाता है।

(छ) ब्रह्मवदा: :–

इस शाखा का नाम हमें चरण व्यूह में ही मिलता है। यही बात ब्लूमफील्ड अपनी पुस्तक "अथर्ववेद एवं गोपथ ब्राह्मण" में कहते हैं।[2]

(ज) देवदर्शा: :–

पाणिनीय गण 4.3.106 में देवदर्शन नाम मिलता है।

(झ) चारणवैद्या :–

कभी यह संहिता बहुत प्रचलित रही होगी क्योंकि वायुपुराण एवं ब्रह्माण्ड पुराण में इस संहिता की मंत्र संख्या बताई गई है। तदनुसार इस संहिता में 6026 ऋचायें हैं।[3]

अथर्व के उपवेद :–

अथर्ववेद के पांच उपवेदों का विवरण हमें प्राप्त होता है। गोपथ ब्राह्मण में कहा है कि पन्चवेदान्निरमिमीत सपवेदंपिशाचवेदं असुरवेदं इतिहासवेदं पुराणवेदं चेति ॥[4] इनमें से इतिहास एवं पुराण ही इस समय प्राप्त होते हैं। अन्य सभी अभी तक उपलब्ध नहीं हैं।

---

1. ब्रह्माण्ड पुराण पूर्व भाग 32.2
2. Not found in Atharuan Iturature out side of the Charanaryuha. अथर्व एवं गोपथ ब्राह्मण
3. तथा चारण वैद्यानां प्रमाणं संहितां शृणु । षट्सहस्त्रमृचामुक्तमृच षड्विंशति पुन: । एतावदधिकं तेषां यजु: कामं विवक्ष्यति ॥ वायु पुराण 61 6 ब्रह्माण्डपुराण 2.35.78
4. गोपथ ब्राह्मण 1.10

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु शतपथ ब्राह्मण कहना है कि "मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह। तस्य मनुष्या विशस्ते··· गृहमेधिनः, तानुपदिशत्यृचो वेदः···। (2) यमो-वैवस्वतो राजेत्याह। तस्य पितरो विशस्ते ·· स्थविराः··· तानुपदिशति यजूंषिवेदः···। (3) वरुण··· आदित्यो राजेत्याह। तस्य गन्धर्वा विश-स्ते··· युवान··· तानुपदिशति अथर्वाणोवेदः···। (4) सोमोवैष्णवो राजा··· तस्याप्सरसो विशः ताः शोभनायुवतयः··· ता उपदिशति अङ्गि-रसोवेदः। (5) अर्बुदःकाद्रवेयो राजा···तस्यसर्पाविशः, ··· तानुपदिशति सर्पविद्या वेद इति। (6)कुबेरोवैश्रवणो राजेत्याह। तस्य रक्षांसि विशः··· तानुपदिशति देवजनविद्यावेद इति। (7) असितोधान्वोराजेत्याह। तस्या-सुराविशः, ते इमे··कुसीदिनउपसमेता भवन्ति तानुपदिशति मायावेदः··· (8) मत्स्यः सांमदो राजेत्याह। तस्योदकेचरा विशः ते मत्स्या मत्स्य-हनश्च···तानुपदिशति इतिहासोवेदः··· । (9) ताक्ष्योंवैपश्यतो राजेत्याह तस्य वयांसि वयोविधिकाश्च विशः··· तानुपदिशति पुराणं वेदः। (10) धर्म इन्द्रो राजेत्याह तस्य देवाविशः···तानुपदिशति सामानिवेद इति॥[1]

उपर्युक्त दस में से चार तो स्पष्ट ही वेदों के नाम हैं शेष छः नाम और हैं जिनमें से पाँच गोपथ में भी कहे गये हैं।

आथर्वणिक साहित्य :-

अथर्ववेद सम्बन्धी साहित्य पर विचार करते समय निम्न प्रमुख ग्रन्थ हमें प्राप्त होते हैं :

१- शौनकीय चतुरध्यायिका :-

यह प्रातिशाख्य चार अध्यायों में विभक्त है। ह्विटनी ने इसे सानु-वाद प्रकाशित किया है। शौनक का नाम आने से इन्होंने इसे शौनकीय चतुरध्यायिका कह दिया है। परन्तु सरस्वती भवन (वाराणसेयसंस्कृत विश्वविद्यालय) के सुरक्षित हस्तलेख में इसे कौत्स-व्याकरण की संज्ञा दी गई है। "इत्यथर्ववेदेकौत्सव्याकरणे चतुरध्यायिकायां··· पादः।[2]

२- अथर्वप्रातिशाख्य :-

इसका संक्षिप्त रूप एक अथर्वप्रातिशाख्य सूत्र भी उपलब्ध होता

1. शतपथ ब्राह्मण 13.4.3.3–14
2. बलदेव उपाध्याय–वैदिक साहित्य और संस्कृति पृ० 209

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। यह बहुत ही स्वल्पकाय है। अथर्वप्रातिशाख्य जो इस प्रातिशाख्य सूत्र का बड़ा रूप है। इसकी सहायता से सूत्र रूप मूल को समझने मे भी विशेष सहायता मिलती है।[1]

३ बृहत्सर्वानुक्रमणी :-

इसमें उन्नीस काण्डा के ही ऋषि देवता छन्द आदि कहे गये हैं। बीसवें काण्ड के ऋषि देवता आदि बृहत्सर्वानुक्रमणी के अनेक हस्तलेखों में नहीं हैं।[2]

४- दन्त्योष्ठ विधि :-

दन्त्योष्ठ विधि नामक लक्षण ग्रन्थ सन् 1921 में पं० रामगोपाल जी ने प्रकाशित किया है। इसके आधार पर शौनकीय शाखा के अनेक अपपाठ शुद्ध किये जा सकते हैं। इसमें दो अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में 12 तथा दूसरे में 11 श्लोक हैं।

५- पञ्चपटलिका :-

इसके अनुसार शौनक शाखा में 18 काण्ड थे। जिनकी मंत्र संख्या 4627 है, जबकि ह्विटनी के अनुसार 18 काण्ड तक संख्या 4432 है। इस ग्रन्थ में अथर्ववेद का अठारहवां काण्ड पहले तथा सत्रहवां बाद में है। जार्ज मैल्विल वोलिग के अनुसार पञ्चपटलिका का पाठ ही आगे पीछे हो गया है।[3] इसमें बीसवें काण्ड को आश्वलायन के अनुसार पढा गया है।

६. गोपथ ब्राह्मण :–

इस ब्राह्मण के दो भाग हैं :- पूर्व एवं उत्तर। पूर्व भाग में पाँच प्रपाठक हैं और उत्तर भाग में छः। चरणव्यूह के अनुसार "तत्र गो-

---

1. बत्रदेव उपाध्याय–वैदिक सा० और सं० पृ० 310 संस्करण–3
2. बृहत्सर्वानुक्रमणी–20वें काण्ड के प्रारम्भ को पं० रामगोपाल जी की टिप्पणी।
3. "At least two other passage are similarly misplaced, and thre are besides probably the lacunas alrady mentioned." American Journal of Philology, October, 1921, P. 367.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पथा: शतप्रपाठकं ब्राह्मणामासीत्। तस्यावशिष्टे द्वे ब्राह्मणे पूर्वमुत्तरं चेति ॥''[1] अर्थात् गोपथ 100 प्रपाठक का ब्राह्मण था। पर अब दो ही भाग पूर्व एवं उत्तर शेष रह गये हैं। इस ब्राह्मण को भाषा के आधार पर विद्वान बहुत प्राचीन नहीं मानते। परन्तु यास्क से यह पूर्ववर्ती ही है। कीथ कहते हैं कि ''यास्क के सामने गोपथ का पाठ विद्यमान था।''[2]

७. वैतान श्रौत सूत्र :-

वैतान का अर्थ है, त्रिविध अग्नि सम्बन्धी ग्रन्थ। यह गोपथ का अनुसरण करता है। यद्यपि कात्यायन श्रौत सूत्र का भी प्रभाव इसके ऊपर है। यह न तो प्राचीन ही माना जाता है और न मौलिक ही।

८. कौशिक गृह्यसूत्र :-

अथर्ववेद का यह एकमात्र गृह्यसूत्र है। यह चौदह अध्यायों में विभाजित है। विनियोगों की जानकारी के लिए अनुपम है। इसके बिना आथर्वणिक क्रियाओं को नहीं जाना जा सकता। वैद्यक शास्त्र एवं औषध विज्ञान की तो यह निधि है।

९. नक्षत्रकल्प :-

इसमें तीस महाशक्तियों का निमित्त भेद से वर्णन है। जिनमें अमृतशान्ति प्रथम एवं अभयामहाशान्ति अन्तिम हैं।

१०. अङ्गिरस कल्प :-

इसमें अभिचार के काल, स्थान का निर्देश है। आत्मरक्षा एवं शत्रु कृत अभिचारों के निवारण के भी उपाय बताए गए हैं।

११. शान्ति कल्प :-

विनायक ग्रह से गृहीत व्यक्ति के लक्षण एवं वैनायकी शान्ति हेतु होमादि का वर्णन है।

१२. माण्डूकी शिक्षा :-

इसमें 179 श्लोक हैं। अथर्ववेद के स्वरों एवं वर्णों को जानने के लिए यह शिक्षा महत्वपूर्ण है।

---

1. चरण व्यूह 4.5
2. ऐतरेय आरण्यक की भूमिका में—कीथ पृ० 25

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१३. पैठिनसीस्मृति :–

अथर्व से सम्बन्धित यही स्मृति है।

अथर्ववेदीय उपनिषदें :–

1- प्रश्नोपनिषद्, 2- मुण्डक, 3- माण्डूक्य, 4- श्वेताश्वतर 5- कैवल्य, 6- गर्भ, 7- ब्रह्म, 8- क्षुरिका, 9- शूलिका, 10- आरुणेय 11- प्राणाग्निहोत्र, 12- वैतथ्य अलातशान्तिः, 13- नीलरुद्र, 14- नादबिन्दुः, 15- ब्रह्मबिन्दुः, 16- अमृतबिन्दुः, 17-ध्यान, 18-तेजो बिन्दु, 19- योग शिक्षा, 20- योगतत्व, 21- सन्यास, 22- कण्ठश्रुति, 23- आत्म, 24- महा 25- कठवल्ली, 26- नारायण, 27- बृहन्नारायण, 28- महानारायण, 29- सर्व, 30- हंस, 31- परमहंस, 32- कालाग्निरुद्र, 33- रामतापनी, 34- जाबाल, 35- आश्रम, 36- पिण्ड, 37- शिरम्, 38- शिक्षा, 39- नृसिंह तापनी, 40- गरुड़ ॥[1]

इनके अतिरिक्त अथर्वपरिशिष्ट नामक 72 ग्रन्थ और हैं। ये बोलिंग (Bolling) और नेगलिन(Negelein) ने मिलकर लिपजिग (leipzig)से 1909 में रोमन में प्रकाशित किये हैं। यहाँ उनका नामोल्लेख ही सम्भव है :–

1. नक्षत्रकल्प, 2. राष्ट्रसंवर्ग, 3. राजप्रथमाभिषेकः, 4. पुरोहितकर्माणि, 5. पुष्पाभिषेकः, 6. पिष्टरात्र्याकल्प, 7. आरात्रिकम, 8. घृतावेक्षणम्, 9. तिलधेनुविधि, 10. भूमिदानम्, 11. तुलापुरुषविधि 12. आदित्यमण्डकः 13. हिरण्यगर्भविधिः 14. हस्तिरथदानविधि 15. अश्वरथ दानविधि, 16. गोसहस्त्रविधिः, 17. राजकर्मसांवत्सरीयकम्, 18. वृषोत्सर्ग, 19. क- इन्द्रमहोत्सवः, ख- ब्रह्मयागः, 20. स्कन्दयागः अथवा धूर्त्तकल्पः, 21. कोटिहोमः, 22.गणमाला, 23. यज्ञपाललक्षणम्, 24. वेदिलक्षणम्, 25. कुण्डलक्षणम्, 26. समीलक्षणम्, 27. स्रवलक्षणम् 28. हस्तलक्षणम्, 29. ज्वालालक्षणम्, 30. क- लघुलक्षहोमः, ख-बृहल्लक्षहोमः, 31. कोटिहोमः 32. गणमाला, 33. घृतकम्बलम्, 34. अनुलोमकल्पः, 35. आसुरीकल्पः, 36. उच्छुष्मकल्पः, 37. समुच्चयप्रायश्चित्तानि, 38. ब्रह्मकूर्चविधिः, 39. तदागविधि, 40. पाशुपतव्रतम्, 41.

---

1. अथर्ववेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणी–संस्करण-1 की भूमिका में पं० राम गोपाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संध्योपासना विधिः, 42. स्नान विधिः, 43. तर्पण विधि, 44. श्राद्ध-विधिः, 45. अग्निहोत्रहोमविधिः, 46. उत्तमपटलम्, 47. वर्णपटलम्, 48. कौत्सव्य निरुक्त निघण्टुः, 49. चरण व्यूहः 50. चन्द्रप्रातिपदिकम्, 51. ग्रहयुद्धम्, 52. ग्रहसंग्रहः, 53. राहुचारः, 54. केतुचारः, 55. ऋतु-केतुलक्षणम्, 56. कर्मविभागः, 57. मण्डलानि, 58. क- दिग्दाहलक्षणम्, ख- उल्कालक्षणम्, 59. विद्युल्लक्षणम्, 60. निर्घाट्लक्षणम्, 61. परिवेष-लक्षणम्, 62. भूमिकम्पलक्षणम्, 63. नक्षत्रग्रहोत्पात लक्षणम्, 64. उत्पातलक्षणम्, 65. सद्योवृष्टिलक्षणम्, 66. गोशान्तिः, 67. अद्भुत-शान्तिः 68. स्वप्नाध्यायः 69. अथर्वहृदयम्, 70. क- भार्गवीयाणि, ख- गार्ग्यायणि, ग- बार्हस्पत्यानि, 71. औशनसाद्भुतानि, 72. महाद्-भुतानि ॥[1]

नीति एवं राजनीति :-

सामान्य रूप से नीति शब्द धर्म एवं सदाचार के लिए प्रयुक्त होता है। वैदिक संस्कृति, सदाचार को सर्वाधिक महत्व प्रदान करती है। दुराचारी का उद्धार तो सदाचार से ही संभव है। अन्यथा स्वयं ऋचा भी उसका कुछ कल्याण नहीं कर सकती। "ऋतस्य पन्थां न तर-न्ति दुष्कृतः" अतः स्थान स्थान पर सुचरित की ओर ले जाने की प्रार्थना की गई है। "परि माग्ने दुष्चरिताद्बाधस्व मा सु-चरिते भज।"[2] हे अग्निदेव! हमें सुपथ से ले चलो।

परन्तु सभी मनुष्य एक से नहीं होते हैं। अतः "परित्राणाय साधू-नां विनाशाय च दुष्कृताम्"[3] अर्थात् सज्जनों की रक्षा एवं दुष्टों के दमन के लिए दण्ड का प्रयोग करना अनिवार्य हो जाता है। शुक्रनीतिसार में कहा है, "सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीति शास्त्रकम्"[4] कि सम्पूर्ण लोक का आश्रय भूत यह नीतिशास्त्र ही है। सम्पूर्ण लोक के व्यवहार की स्थिति इस नीति शास्त्र के बिना नहीं रह सकती, जैसे कि भोजन

1. अथर्ववेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणी–संख्या 1 की भूमिका में पं० राम गोपाल शास्त्री
2. यजुः 4.28
3. श्रीमद्भगवत्गीता 4.8
4. शुक्रनीतिसार 1.5

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बिना प्राणियों के देह की स्थिति।[1]

प्रारम्भ में नीति शब्द से सदाचार एवं दण्डनीति दोनों का ही कथन होता था परन्तु कालान्तर में यह भेद नीति एवं राजनीति या दण्डनीति इन शब्दों के द्वारा स्पष्ट कर दिया गया। इसी को डा० भाण्डारकर कहते हैं कि "संभवत: कुछ काल बाद जब नीति शब्द सामान्य शिष्टाचरण के लिए प्रयुक्त होने लगा तब राज्यधर्म एवं शिष्टाचार का भेद प्रदर्शित करने हेतु नीतिशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र ये दो शब्द प्रयाग में आने लगे। जिनमें राजनीति राजधर्म का एवं नीतिशास्त्र सामान्य सदाचारादि का प्रतीक बन गया।[2]

दण्डनीति की निरुक्ति करते हुए कामन्दक तथा शुक्रनीति में कहा गया है कि वस्तुत: राजा तो दण्ड ही है, दमनकर्त्ता होने से, उसकी नीति ही दण्डनीति है। आगे चलाने वाली होने से उसे नीति कहते हैं।[3]

प्राचीन भारत में जो भी राजनीतिक चिन्तन हुआ वह अपनी इस विशेषता से युक्त है कि नीति एवं राजनीति कभी भी पूर्णरूप से पृथक् नहीं मानी गई। यही कारण है कि वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ जहाँ धर्म और नीति का प्रतिपादन करते हैं, वहीं राजनीति का भी विस्तृत उपदेश हमें प्राप्त होता है। राजा का मुख्य कर्त्तव्य है कि वह नीति का पालन यथोचित रूप से कराता रहे तथा अपने कर्त्तव्य का पालन करने वालों की रक्षा एवं ऐसा न करने वालों को दण्ड देकर समाज को प्रतिष्ठित रखे। इसी का आदर्श रूप हमें राजा अश्वपति के इस कथन में प्राप्त होता है "न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो

1. सर्वलोक व्यवहार स्थितिं नीत्या बिना न हि।
यथाशनैर्बिना देह स्थितिर्न स्याद्धि देहिनाम् ॥ शुक्रनीतिसार 1.11
2. It seems that the word "Niti" come to stand for rules of general conduct. It become necessary to use the phrase "Rajniti" to distinguish them from the rules of kingly conduct. Dr, D. R. Bhandarkar, Some Aspects of Ancient Hindu Polity, P. 29)
3. दमोदण्ड इति प्रोक्तस्तात्स्थ्यात् दण्डोमहीपतिः। तस्य नीतिर्दण्ड-नीतिः नयनान्नीतिरुच्यते ॥ कामन्दक 2.15/शुक्रनीतिसार 1.57

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न मद्यप:। नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुत:"[1] इसीलिए राजा को कहा गया है कि वह नीतिशास्त्रज्ञ ब्राह्मणों का सम्मान करे, तथा धर्म की प्रतिष्ठा में लगा रहे।

धर्म की व्युत्पत्ति तथा महत्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि "धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजा:। य: स्याद् धारण संयुक्त: स धर्म इति निश्चय:"।[2] क्योंकि यह धर्म ही अभ्युदय एवं नि:श्रेयस दोनों को देने वाला है"।[3]

जो राजा अपने राज्य का विस्तार करना चाहता है तथा दीर्घ-काल तक राज्य करना चाहता है, उसे इस प्रकार के धर्मिष्ठ विद्वानों एवं ब्राह्मणों का सम्मान करना चाहिये। ऐसा न करने वाले अत्यन्त शक्तिशाली और संख्या में बहुत होने पर भी पराजित हो जाते हैं।[4]

यदि राजनीति नीति पर आधारित होगी तो वह कल्याणकारी होगी और यदि राजा कामी और लोभी या इन्द्रियों के वश में रहने वाला विलासी होगा तो वह समस्त राष्ट्र को विध्वंस की ओर ले जायेगा। इसीलिए राजा का इन्द्रियजयी होना महत्वपूर्ण है। "ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति"[5] अर्थात् ब्रह्मचर्य एवं तप के बल पर ही राजा राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ होता है। मनुष्य ही नहीं देवराज इन्द्र भी ब्रह्मचर्य के बल पर ही देवों के लिये सुख प्रदान करता है"।[6]

यदि राजनीति सत्य एवं धर्म पर आधारित होगी तो वह चिर-स्थायी होगी। "ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्"[7] अत: धर्म द्वारा धारित राष्ट्र ही चिरकाल तक ठहरता है। अधर्म कुछ दिनों तक ही

1. छान्दोग्योपनिषद् 5.11.5
2. महाभारत शान्तिपर्व 109.11
3. यतोअभ्युदयनि: श्रेयससिद्धि: स धर्म:। वैशेषिक दर्शन 1/1/2
4. एकशतं ता जनता या भूमिर्व्यधूनुत। प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीम-संभव्यं पराभवन्। अथर्व 5.18.12
5. अथर्व 11.5.17
6. अथर्व 11.5.19
7. अथर्व 12.1.17

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फल फूल सकता है पर उसमें स्थायित्व नहीं होता। अतः दण्ड अर्थात् क्षत्र एवं नीति अर्थात् ब्रह्म दोनों को एक दूसरे का आश्रय लेते हुए आगे बढ़ना चाहिये। ब्रह्म एवं क्षत्र के मिलन से ही कल्याण की प्राप्ति संभव होता है।

भारतीय शास्त्रकारों ने दण्ड का महत्व प्रतिपादित किया है। परन्तु उसका तात्पर्य यह नहीं है कि सभी मनुष्य स्वभावतः नीच या कृतघ्न ही हुआ करते हैं तथा उन्हें दबाने के लिए दंड की आवश्यकता होती है। वैदिक राज्य का ध्येय ऐसी परिस्थिति व वातावरण उत्पन्न करना है जिससे चारों वर्ण एवं आश्रम अपने धर्म का यथाविधि पालन कर सकें। भगवान कृष्ण ने भी "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः" कहकर इसी भाव की पुष्टि की है। महामनीषी चाणक्य का भी यही कथन है वे अपने अर्थशास्त्र में कहते हैं कि "राजा लोगों को कर्त्तव्यच्युत न होने दे जो अपने धर्म का यथाविधि पालन करता है एवं वर्ण तथा आश्रम का सम्मान करता है वह दोनों लोकों में प्रसन्न रहता है।[1] यही बात मार्कण्डेय पुराण में भी कही गई है कि "वर्ण धर्मा न सीदन्ति यस्य राज्ये तथाश्रमाः। वत्स तस्य सुखं प्रेत्य पर त्रेह च शाश्वतम्"[2] कामन्दक एवं शुक्रनीतिसार भी इसका समर्थन करते हैं। 'न्याय प्रवृत्तो नृपतिरात्मान्मपिच प्रजाः त्रिवर्गेणोपसन्धत्ते निहन्ति ध्रुवमन्यथा"।[3] अर्थात् राजा न्याय करके स्वयं को तथा प्रजा को भी धर्म, अर्थ. काम रूप त्रिवर्ग से संयुक्त कर देता है अन्यथा वह स्वयं तो नष्ट होगा ही साथ ही प्रजा को भी नष्ट करा देगा।

दण्ड का महत्व यहाँ तक बढ़ा कि राजा को ही सबकी उन्नति या अवनति का कारण माना जाने लगा। यहां तक कि राजा को काल का भी कारण कह दिया गया। राजा की वृत्ति एवं प्रवत्ति का भी प्रजा पर प्रभाव पड़ता है। शासक वर्ग के पद, वैभव एवं शासकीय वृत्ति के कारण प्रजा पर प्रभाव रहता है। इस कारण राजा जिस प्रकार का ऊँचा या नीचा आचरण करते हैं, प्रजा भी वैसा ही आचरण करती है।

1, कौटिल्य अर्थशास्त्र 1.4
2. मार्कण्डेयपुराण 27.29
3. कामन्दक नीति 1.13 शुक्रनीतिसार 1.67

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा धार्मिक प्रवृत्ति का होगा तो प्रजा भी वैसी हो जायेगी। यदि राजा दुष्प्रवृत्ति वाला होगा तो प्रजा पहले ही बिगड़ जायेगी। अतः दण्ड को ही साक्षात् धर्म कह कर नीति एवं राजनीति का सामञ्जस्य द्योतित कर दिया गया। "दण्डःशास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभि रक्षति। दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्म विदुर्बुधाः।"[1] दण्ड ही सम्पूर्ण प्रजाओं पर शासन करता है दण्ड ही सबकी रक्षा करताहै। सबके सो जाने पर भी दण्ड निरन्तर जाग्रत रहता है इसलिये बुद्धिमानलोग दण्ड को धर्म के रूप में जानते एवं मानते हैं।

राजनीति का एक नाम दण्ड नीति है इस प्रकार दण्ड या राजनीति तथा नीतिशास्त्र परस्पर अन्योन्याश्रित से हैं। इसलिये दण्ड की स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि "असंमोहाय मर्त्यानामर्थ संरक्षणाय च। मर्यादा स्थापिता लोके दण्ड संज्ञा विशांपते।"[2] मनुष्यों को संमोह से उबारने के लिये, धनधान्य की रक्षा करने के लिये और लोक की मर्यादाओं का पालन कराने के लिये दण्ड नामक यह विधान बनाया गया है।

राजनीति शास्त्र का महत्वः-

भारतीय ऋषियों ने आध्यात्म के साथ साथ ऐहिक उन्नति की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया था। इसीलिये धर्म का लक्षण एवं प्रयोजन बताते हुए कहा गया "जिससे अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति हो वही धर्म है।"[3] ऐहिक उनति का मूल दण्डनीति में ही अवस्थित है। दण्डनीति के नष्ट हो जाने पर सभी ज्ञान, विज्ञान एवं शास्त्र चिन्तन भी समाप्त हो जाता है। महाभारतकार कहते हैं, "मज्जेत त्रयी दण्डनीतौ हतायां, सर्वेधर्माः प्रक्षयेयुः विवृद्धाः।"[4] यह राजधर्म ही सम्पूर्ण जीवलोक का एकमात्र आश्रय है।"[5] धर्म, अर्थ, काम इस पर ही आधा-

1. महाभारत शान्तिपर्व 15.2
2. वही 15.10
3. यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।वैशेषिक दर्शन 1.12
4. महाभारत शान्तिपर्व 63.28
5. सर्वस्य जीव लोकस्य राजधर्मः परायणम्। महा. शान्ति 55.3

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रित हैं। इतना ही नहीं मोक्ष भी इसी पर आधारित है। "त्रिवर्गो हि समासक्तो राजधर्मेषु कौरव,मोक्षधर्मश्च विस्पष्टः सकलोऽत्र समाहितः"[1] सोमदेव सूरि का कथन है" धर्म अर्थ की फल प्राप्ति के लिये इस राज्य को नमस्कार है।"[2]

प्रजा की बहुमुखी प्रगति के लिये इस राज धर्म का यथोचित पालन अनिवार्य है। यदि राजा पूर्ण न्याय, शक्ति एवं प्रयत्नपूर्वक राज्य का संचालन करता है तो वह उस काल को भी बदल सकता है। इसी लिये राजा को काल का भी कारण कह दिया गया है। जब कभी राजा इस प्रकार राज्य करता है तभी सत्युग का आगमन हो जाता है।[3] दण्डनीति द्वारा ही सम्पूर्ण भुवन अपने मार्ग पर निरन्तर रूप से चलते हैं।[4]

इस राजनीति विद्या को अवश्य जानना चाहिए। सनत् कुमार के पूछने पर नारद कहते हैं कि मैंने वेद, इतिहास, पुराण, पित्र्य विद्या, राशि विद्या, देव विद्या, भूतविद्या, युद्धनीति, नक्षत्र विद्या, सर्प विद्या और खनि विद्या का अध्ययन किया है।[5] जातक ग्रन्थों में भी धनुर्विद्या का वर्णन प्राप्त होता है।[6] वायुपुराण में संख्यात्, अष्टादश विद्याओं में भी राजनीति का स्थान है।[7]

चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र का प्रारम्भ ही "आन्वीक्षिकी, त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेतिविद्याः" कहकर किया है। वे आगे कहते हैं कि "दण्डनीतिरेका विद्येत्यौशनसाः तस्यां हि सर्वविद्यारम्भाःप्रतिबद्धा इति"[8] अर्थात् आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति ये चार विद्यायें

1. महाभारत शान्तिपर्व 55.4
2. अथ धर्मार्थफलाय राज्याय नमः। सोमदेव सूरि, नीतिवाक्यामृत पृ॰7
3. दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्तते। तदा कृतयुगं नाम कालः सृष्टं प्रवर्तते। महा. शान्ति 69.7
4. कामन्दक नीति सार 1.1
5. छान्दोग्योपनिषद्, अध्याय 7 प्रथम खंड 2
6. जातक, सम्पादित–ई॰ बा॰ कोवेल खड-2 पृष्ठ 32
7. वायुपुराण 3.6.22
8. कौटिलीय अर्थशास्त्र 1.1

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं परन्तु उशनस आचार्य के अनुयायियों का मत है कि दण्डनीति ही एकमात्र विद्या है, । उसी से सब विद्याओं का आरम्भ होता है । महाभारतकार भी कहता है कि "सारे ही त्याग राजधर्म में देखे जाते हैं। सभी दीक्षायें राजधर्म में कह दी गई हैं। सभी विद्यायें राजधर्म में संयुक्त हैं। सारे ही लोक राजधर्म में प्रविष्ट हैं।"[1]

शुक्राचार्य कहते हैं कि "इस नीति के बिना लोक व्यवहार नहीं चल सकता, जैसे कि बिना भोजन के प्राणियों की देह स्थिति नहीं रहती है।"[2] मनुस्मृति भी कहती है कि "सब के सो जाने पर भी दण्ड निरन्तर जाग्रत् रहकर सबकी रक्षा करता है।"[3] महाभारतकार के अनुसार "यदि दण्ड का भय न हो तो व्यक्ति परस्पर खा जायें। यदि दण्ड रक्षा न करे तो सब लोग अन्धकार में डूब जायें।"[4]

राजा, सम्राट्, विराट्, भोज, क्षत्रिय, भूपति, नृप इत्यादि नाम तो उस (दण्ड) के प्रयोक्ता के नाम हैं परन्तु नीति वस्तुतः दण्ड की ही होती है।[5] अर्थात् उस दण्ड के ही ये नाना नाम हैं:–

दण्ड का उद्देश्य बताते हुए कहा गया है ।

"असंमोहाय मर्त्यानामर्थसंरक्षणाय च ।
मर्यादा स्थापिता लोके दण्डसंज्ञा विशांपते ।"[6]

लोगों को मूढ़ता से हटाकर धन धान्य की रक्षा करके मर्यादा की स्थापना ही इसका उद्देश्य है ।

दण्डनीति का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि "आन्वीक्षिकी त्रयी और वार्ता का विस्तार एवं साफल्य दण्ड पर ही निर्भर है यही

---

1. सर्वेंत्यागाः राजधर्मेषु दृष्टाः, सर्वा दीक्षाः राजधर्मेषु चोक्ताः । सर्वा विद्याः राजधर्मेषु मुक्ताः, सर्वेलोकाः राजधर्मे प्रविष्टाः । महा. शान्तिपर्व 63.29
2. शुक्रनीतिसार 1.11
3. मनुस्मृति 8.14
4. महाभारत शान्तिपर्व 15.7
5. राजा भोजो विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः । य एभिः स्तूयते शब्दै कस्तं नार्चितुमर्हति । महा. शान्तिपर्व 68.54
6. महा. शान्तिपर्व 15.10

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दण्डनीति है। अप्राप्त की प्राप्ति, प्राप्त का रक्षण, रक्षित की वृद्धि और वृद्धि को प्राप्त पदार्थों को उचित प्रयोग में लगाना दण्डनीति का ही कार्य है।"[1]

दण्ड की व्युत्पत्ति करते हुए शान्तिपर्व में कहा गया है:–

"यस्माददान्तान्दमयति, अशिष्टान्दण्डयत्यपि ।
दमनाद्दण्डनाच्चैव तस्माद् दण्डं विदुर्बुधाः ॥"[4]

शुक्रनीति भी इसकी व्युत्पत्ति करते हुए कहती है कि "दम का नाम ही दण्ड है। इस दण्ड की नीति ही दण्डनीति कहलाती है क्योंकि यह नयन अर्थात् पथ प्रदर्शन करती है"।[5]

जो व्यक्ति दण्ड के प्रति विनम्र नहीं है समाज उसे उद्दण्ड कह कर पुकारता है। जो व्यक्ति उसके विपरीत सामाजिक नियमों के अनुरूप दमित वृत्ति के होते हैं उन्हें दान्त कहा जाता हैं। वेद उसे दमूना कहता है। यास्काचार्य दान्तमना कह कर इसको अभिव्यक्त करते हैं। प्रजा पति के उपदेश में 'द' का अर्थ दमन लेने से ही देवत्व की स्थापना हुई। इसी प्रकार समाज में दमन से गुण पल्लवित एवं पुष्पित होते हैं।

---

1. आन्वीक्षिकी त्रयी वार्तानां योगक्षेमसाधनोदण्डः। तस्यनीतिर्दण्ड नीतिः। अलब्धलाभार्था, लब्धपरिरक्षिणी, रक्षितविवर्धिनी, वृद्धस्यतीर्थेषु प्रतिपादिनी च ॥ कौटिलीय अर्थशास्त्र 1.3
2. महा. शान्तिपर्व 15 8
3. शुक्रनीतिसार 1.153-154

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय अध्याय

राज्य की उत्पत्ति

अथर्ववेद के विराट् सूक्त (8.10) में हमें राज्य बनने से पूर्व की स्थिति प्राप्त होती है। प्रारम्भ में सम्पूर्ण संसार में घोर अव्यवस्था की स्थिति थी। जिससे कि सभी के मन में भय का संचार हुआ।[1] बलवान निर्बलों को सताते थे और मत्स्य न्याय ही चरितार्थ होता था। परन्तु आगे चलकर मानव की सामाजिक भावना प्रबल हुई और तब एकाकी जीवन त्याग कर, अन्य के साथ मिलकर गृहस्थ की भूमिका बनी।[2] जो इस रहस्य को जानता है, जिसने इसका चिन्तन एवं मनन किया है वही मानव की प्रगति के इस प्रथम चरण को समझने में समर्थ हो सकता है। "गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद।"[3] इस गृहस्थी के महत्त्व को जानने वाला ही वस्तुतः गृहस्थ होता है।

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार "जाया गार्हपत्यः" अर्थात् गार्हपत्य की का आधार पत्नी ही है। क्योंकि पत्नी ही परिवार का मूल आधार बनती है। तभी समाज में बन्धन की प्रवृत्ति प्रारम्भ होती है। शतपथ के "अयं वै भूलोको गार्हपत्यः" का अर्थ जब हम इस प्रकरण में देखते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि परिवार ही भविष्य की सामाजिक एवं राजनीतिक उन्नति का मूल बना। यह कथन तब और भी स्पष्ट हो जाता है जब हम "माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु।"[4] पर दृष्टिपात करते हैं। इस जगह भूमि को माता या पत्नी स्थानीय बताया गया। पत्नीत्व मातृत्व का ही पूर्व रूप है। इस प्रकार परिवार विश्व के विकास की प्रथम इकाई बना और जब परिवार बढ़ने लगा तो परिवार की परिधि भी बढ़ती गयी।

इस गार्हपत्य के बाद हमें "जन का संगठन प्राप्त होता है। एक

1. विराड्वा इदमग्र आसीत्तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति। अथर्व० 8.10.1
2. सोदक्रामत्सा गार्हपत्ये न्यक्रामत्॥ अथर्व० 8.10.2
3. अथर्व० 8.10.3
4. अथर्व० 12,1.12

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जन के सभी व्यक्ति सजात, सनाभि व एक वंश के समझे जाते थे।"[1] यह स्थिति बड़े कुटुम्ब की थी। अनेक स्थानों पर हमें सज सनाभि शब्द प्राप्त होते है तथा वे सब इस प्रकरण से भी सम्बन्धित हैं। यथा"सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि"[2] "स जातैरिद्धोऽप्रांत ब्रवद्भि: ।[3] सजातानां श्रेष्ठ्य आधेह्येनम्"[4] अच्छत्वा यन्तु हविनः सजाताः।"[5] इस सजात का अर्थ करते हुए सायणाचार्य लिखते हैं "सजातानां समान जन्मनां पुरुषाणां मध्ये श्रेष्ठयै एनम् पुरुषम् आधेहि निधेहि स्थापय। ज्ञातीनां मध्ये एनम् उकृष्टतमं कुर्वित्यर्थः ।।"[6]

इसी प्रकार सनाभि शब्द भी हमें अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है "मेमं सनाभिरुत वान्यनाभिर्येमं प्रापत् पौरुषेयो वधो यः" ।[7] इस मंत्र में सनाभि शब्द की व्याख्या में आचार्य सायण कहते हैं "सनाभिः समानो नाभिः गर्भाशयो यस्याऽसौ सनाभिज्ञातिः ।।" इसीलिए विश के सभी व्यक्तियों को सबन्धु कहा गया है। "स विशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत्" "विशां च वै स सबन्धूनां चान्नस्य चान्नाद्यस्य च प्रियंधाम भवति य एवं वेद।"[8]

"उन जनों के सामूहिक निवास ग्राम कहलाते हैं। उन अनेक ग्रामों के समूह को जनपद कहा जाने लगा। सारे जनपद के शासक को राजा कहते हैं और विभिन्न ग्रामों के शासकों की संज्ञा ग्रामणी है। डा० सत्यकेतु के अनुसार "राजनीतिक रूप से संगठित जन या विशः की राष्ट्र संज्ञा थी"।[9] विशः का स्वामी होने से राजा की संज्ञा विश्पति भी थी।[10]

---

1. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार–प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र–पृ० 34
2. अथर्व० -3.8.2
3. अथर्व० -3.8.3
4. अथर्व० -1.9.3
5. अथर्व० -3.3.3
6. अथर्व० -1.9.3 में सायणाचार्य।
7. अथर्व० -1.30.1
8. अथर्व० -15.8.2-3
9. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार–प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र पृ० 35
10. अथर्व० 3.4.2

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाभारत में भी राज्य की उत्पत्ति का कारण बताते हुए भीष्म कहते हैं–"नैवं राज्यं च राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दण्डिक:।

धर्मेणैव प्रजा: सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम्।"[1] अर्थात् पहले न राजा था, न राज्य ही, न दण्ड था, न दण्ड देने वाला। सारी प्रजाएं धर्म के आधार पर ही परस्पर एक दूसरे की रक्षा करती थीं। परन्तु धीरे-2 वस्तुओं की कमी से लोभ, मोह उत्पन्न हो गया। जिससे धर्म के आधार पर कार्य में बाधा पड़ने लगी और अव्यवस्था उत्पन्न हो गई।[2]

विलुप्ते नर लोकेऽस्मिन् ततो ब्रह्मननाश ह।
नाशाच्च ब्रह्मणो राजन्धर्मो नाशमथागमत्।
नष्टे ब्रह्मणि धर्मे च देवास्त्रासमथागमन्।
ते त्रस्ता नर शार्दूल ब्रह्माणं शरणं ययु:।[3]

मनुष्य समूह में जब ज्ञान (कर्तव्याकर्तव्यबुद्धि) का नाश हो गया तो धर्म भी स्वत: नष्ट हो गया। धर्म के नष्ट होने पर सभी भयभीत हो गए। तब भयभीत होकर वे सब देव ब्रह्मा की शरण में गये। तब ब्रह्मा जी ने दण्डनीति का उपदेश दिया। तदनुसार राजा व राज्य आदि की उत्पत्ति हुई एवं पृथु पहला राजा बना। महाभारत में इस अराजक स्थिति का वर्णन अन्य स्थानों पर भी प्राप्त होता है।[4]

रामायण के अयोध्याकाण्ड में प्रजा द्वारा मनु को राजा चुनने एवं समय अर्थात् शर्तें तय करने का वर्णन प्राप्त होता है।[5] मनु भी इस स्थिति को स्वीकार करते हैं वे कहते हैं-"अराजकेहिलोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रते भयात् रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभु: "।[6] महाभारत में वर्णित मात्स्य न्याय की स्थिति को स्वीकार करते हुए वे कहते हैं कि "जले मत्स्या नवाभक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तरा:"[7] कौटिल्य भी कहते हैं कि

1. महा० शान्ति० 59.14
2. महा० शान्ति० 59.16
3. महा० शान्ति० 58-21
4. महा० शान्ति 67वाँ अध्याय।
5. रामायण-अयोध्याकाण्ड-अध्याय-43
6. मनुस्मृति 7.3
7. मनुस्मृति 72o

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजाः मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे। धान्यषड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यंचास्य भागधेयं प्रकल्पया-मासुः।''[1] इस प्रकार हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि प्रारंभिक राजा के नाम में भले ही भेद है परन्तु राजा बनने से पूर्व की स्थिति में कोई भी भेद नहीं है।

जिस धर्म द्वारा रक्षाकी स्थिति के उपरान्त, अराजक स्थिति उपन्न ई थी, उस धर्म पर आधारित राज्य की प्राप्ति के लिए भारतीय मानस सदा उत्सुक रहा है क्योंकि वही लोक कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

सत्य एवं धर्म पर आधारित लोक कल्याणकारी राज्य

लोक का स्पष्टीकरण करते हुए अमरकोषकार अमरसिंह ने 'भुवन'' एवं ''जन'' ये दो अर्थ किये गये हैं।[2] हलायुध ने ''विष्टप तथा जगत् को लोक का एकार्थक कहा है।[3] उपरोक्त अर्थों में सामान्य रूप से सम्पूर्ण पृथ्वो पर रहने वाला चेतन जगत आ जाता है। परन्तु इस प्रकरण में लोक का अर्थ जन या प्रजा से हो अभीष्ट है। परंतु सम्पूर्ण मानव जाति भी यहाँ लोक के अर्थ में नहीं ली जा सकती। क्योंकि राजा के सम्मुख अपना राज्य प्रथम है शेष गौण। इसीलिए राज्य की जनसंख्या या जन अथवा प्रजा वृद्धि के साथ राजा का लोक भी बढ़ता है एवं ह्रास के साथ घटता है।

कल्याण शब्द का अभिप्राय अभ्युदय एवं निश्रेयस से है। अमरकोषकार स्वःश्रेयस, शिव, भद्र, मंगल, शुभ, भावुक, भव्य, कुशल, क्षेम, शस्त के द्वारा कल्याण को स्पष्ट करते हैं।[4] संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ में कल्याण शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए कहा है'' कल्यते प्रातः अण्यते शब्द्यते इति।'' इस प्रकार लोक कल्याण का अर्थ प्रजा का अभ्युदय है। यह अभ्युदय ही वैदिक राज्य का लक्ष्य है और बल का स्वामी होने से राजा हो इसमें सर्वाधिक सफल हो सकता है।

प्रारम्भ की अराजक स्थिति से ऊपर उठकर ''सबके कल्याण की

1. कौटिलीय अर्थ. 1.9
2. लोकस्तु भुवने जने। नानार्थवर्ग-2॥ काण्ड 3, अमरकोष।
3. भुवनं विष्टपं लाको जगदेकार्थवाचकाः। हलायुध । 133
4. अमरकोष। काण्ड-1, कालवर्ग 25।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कामना करते हुए उन साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने सुख की इच्छा से तप और दीक्षा को प्रथम स्थान पर स्थापित किया। तब राष्ट्र, उसका बल और सामर्थ्य उत्पन्न हुआ। इसलिए सभी मनुष्यों का कर्त्तव्य है कि उस राष्ट्र के प्रति नमन का भाव धारण करें।"[1]

किसी भूमि पर पहुंच जाने, वहाँ रहने या उस पर कब्जा कर लेने मात्र से ही वह हमारी मातृभूमि नहीं हो जाती है। जबतक कि हमारी भावनाएं, हमारा भूत और भविष्य उससे बंध न जाये। किसी भी राष्ट्र को धारण करने वाली निम्न चीजें होती हैं। (क) सत्य:-जबतक राष्ट्र, सत्य पर आधारित नहीं होगा तब तक उसकी उन्नति एवं प्रगति संभव नहीं है। जब नागरिकों के जीवन में सत्य व्याप्त होता है तो उनका परस्पर व्यवहार, विश्वास सुगम होता है और कटुता उत्पन्न न होने से जीवन एवं कार्य सरल हो जाते हैं। (ख) ऋत:-आध्यात्मिक सत्य भी मनुष्यों में होना चाहिए। (ग) उग्रता:-राष्ट्र की रक्षा के लिए उसकी सीमाओं का सुदृढ़ होना आवश्यक है तथा सामान्य मनुष्य में भी उग्रशक्ति व्याप्त होनी चाहिये ताकि वह शत्रु एवं अन्याय का विरोध पूर्ण शक्ति एवं सामर्थ्य के साथ कर सके।(घ)दीक्षा :-सभी प्रजाजनों को राष्ट्र की उन्नति के लिए संकल्पवान होना चाहिए। बिना संकल्प के उग्रता गलत मार्ग पर पड़कर विनाशकारी हो जायेगी। (ङ) तप:-संकल्पित कार्य के मार्ग में आने वाली कठिनाईयों को सहन करना ही तप है। अत: प्रजा को कष्ट सहिष्णु एवं धीर होना चाहिये। (च) ब्रह्म :- संकल्प और सहिष्णुता तभी धारण किये जा सकते हैं जब वह ज्ञान पर आधारित हों। बिना ज्ञान के उन्नति पथ पर आगे बढ़ना असंभव ही है। (छ) यज्ञ:- अर्थात् परोपकार या श्रेष्ठ कर्म करने की भावना। उक्त सात पदार्थ राष्ट्र को धारण करते हैं। तभी वह भूमि हमारे भूतकाल के इतिहास और भविष्य की रक्षिका होती है।[2] अथर्ववेद में अन्यत्र भी कहा गया है कि ऋत, सत्य, तप, राष्ट्र,श्रम, धर्म, कर्म, भूत, भविष्य वीर्य, लक्ष्मी, बल[3] सभी राजा के आश्रय से रहते हैं। यह समृद्धि, ओज

1. अथर्व० 19.41.1
2. अथर्व - 12.1.1
3. वही- 11.7.17

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संकल्प, क्षत्र शक्ति ये छहों दिशाएं भी राष्ट्र पर ही आधारित हैं।[1]

वैदिक ऋषियों ने राष्ट्र को बिना धर्म के महत्व नहीं दिया। राष्ट्र की उत्पत्ति के लिये उसकी स्थिरता के लिये धर्म का होना आवश्यक है। "ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम् शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा"[2] इस प्रकार धर्म-धारित भूमि पर ही प्रजाएं सुख एवं शान्तिपूर्वक सर्वदा विचरण कर सकती हैं। चाणक्य भी कहते हैं "कि राजा धर्म के आधार पर ही लोक को धारण करता है। राजा धर्म से ही लोकों को जीतता है।"[3]

"राजा का कर्तव्य है कि वह सदा ऐसे प्रयत्न करता रहे जिससे प्रजा का योगक्षम होता रहे। सभी प्रजा भद्र का दर्शन करें, भद्र से श्रेय की ओर बढ़ें इसप्रकार पृथ्वी को श्रेष्ठ बनाकर शत्रुओं को दूर कर दे।"[4] हे मनुष्यों तुम सदा उन्नतिशील बने रहो कभी भी पतित न होओ। इस प्रकार अमृतमय सुख का भोग करने वाले बनो तथा वृद्धावस्था तक पूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले होओ।"[5] कहा गया है कि "परमैश्वर्यवान राजा हमें सुख प्रदान करता है। इस लिए पाप हमारे पीछे नहीं लगता और कल्याण हमारे सम्मुख रहता है।"[6]

महाभारत में भी कहा गया है कि राजा उत्तम हो तो वार्द्धक्य, दुर्भिक्ष, क्लेश आदि नहीं होते। राजा वैन्य का वर्णन करतेहुए कहा गया है कि-"न जरा न च दुर्भिक्षनाधयो व्याधयःकुतः। सरीसृपेभ्यः स्तेनेभ्यो न चान्येभ्यः कदाचन। भयमासीत्ततस्तस्य पृथिवी सस्यमालिनी"।[7]

मनुस्मृति साक्षी है "जिस राजा के राज्य में चोर, व्यभिचारी, दुष्ट वाक्य बोलने वाले, डाकू, दण्ड को न मानने वाला नहीं है, वही राजा इन्द्र के समान राज्य करता है।"[8] यह कथन कल्पना मात्र नहीं है क्योंकि

1. वही- 11.7.18
2. वही- 12.1.17
3. चाणक्य सूत्राणि-233,237
4. अथर्व- 7.8.1
5. वही-8.1.6 6. वही-20.20.6।
7. महाभारत शान्तिपर्व 59.130
8. यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीणो न दुष्टभाक्। न साहसिक दण्डघ्नौ स राजा शक्र लोक भाक्। मनुस्मति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छांदोग्य उपनिषद् में भी राजा अश्वपति कहते है "न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो । नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ।"[1]अर्थात् मेरे राज्य में न चोर है न कंजूस न ही कोई शराबी है । कोई मूर्ख नहीं है,कोई अयज्ञशील नहीं है । न कोई व्यभिचारी है न ही व्याभिचारिणी।

लोक को प्रेरणा देने के साथ ही उसका पालन पोषण भी राज्य का कर्त्तव्य है। अथर्ववेद के ऋषि की घोषणा है कि वही सब प्राणियों का स्वामी होने योग्य है जो समस्त प्राणियों का दुग्धादि पौष्टिक पदार्थो से पालन पोषण करता है । उसकी मृत्यु राजसूय को प्राप्त होती है इसलिए वही राजा होकर राज्य स्वीकार करे ।[2]

पालन पोषण के साथ ही प्रजा में ओज एवं तेज की भी वृद्धि होनी चाहिए। ओज का आधार ब्रह्म (ज्ञान) है और तेज का आधार क्षत्र है । अतः ब्रह्म एवं क्षत्र दोनों मिलकर चलने वाले हों । जहां ये दोनों मिलकर चलते हैं तथा नित्य अग्निहोत्र होते हैं वही देश पुण्यलोक कहलाता है । जैसा कि स्पष्ट ही यजुर्वेद में कहा गयाहै-"यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह । तंल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना"[3] जब ये ब्रह्म एवं क्षत्र शक्ति मिलकर एक साथ कार्य करते हैं तो देवगण उत्तम श्री तथा शोभा से सम्पन्न कर देते हैं ।[4] श्री मद्भगवद् गीता में कहा गया है कि "यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः । तत्र श्री विजयो भूति । ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम"[5] धर्म का उपदेष्टा ब्राह्मण होता है और उसका पालन कराने वाला राजा या क्षत्रिय वर्ग । इसलिए राजा को सदा धर्म का आचरण करना चाहिए। वह धर्म, क्षत्र का भी क्षत्र है अर्थात् राजा का भी राजा है । अतः धर्म से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है ।[6]

1. छान्दोग्य उपनिषद-प्रपाठक 5 खण्ड 11
2. अथर्व 4-8-1
3. यजु-20-25
4. इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् । मयि देवादधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा । यजु-32-16 ।
5. श्री मद्भगवद्गीता-18-78 ।
6. तदेतत् क्षत्रस्यक्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्ति ॥ वृहदारण्यक 1.4.14 ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्र की रक्षा दो प्रकार से की जाती है अन्त: एवं बाह्य रूप से। क्योंकि राज्य का उद्देश्य समाज की रक्षा करना है। बाह्य शत्रुओं से रक्षा करना तथा आन्तरिक शत्रुओं यथा भोज्यादि पदार्थों को न्यूनता जन्य आपत्तियों से रक्षा। इसलिए यजुर्वेद में प्रार्थना की गई है कि–

हमारे राष्ट्र में सदा ही ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण उत्पन्न होते रहें। महारथी योद्धा धनुर्वेदज्ञ क्षत्रिय हों। दुधारु गौएं, भारवाही बैल, तीव्र घोड़े, सुन्दर स्त्रियाँ, विजयशील रथी, सभाचतुर युवा पुत्र हों, आवश्यकतानुसार वृष्टि हो तथा पर्याप्त मात्रा में परिपक्व अन्न एवं औषधियां प्राप्त हों और अप्राप्त की प्राप्ति तथा प्राप्त का रक्षण होता रहे।[1]

राष्ट्र के लिए पृथिवी का होना ही पर्याप्त नहीं है। सबसे अधिक मुख्य मनुष्य हैं क्योंकि मनुष्य जहां भी रहेंगे वहां राष्ट्र की भावना पैदा हो सकती है। मनुष्य रहित भूमि की कोई कीमत नहीं है। इसीलिए "उत्तरं राष्ट्रं प्रजया उत्तरावद्"[2] अर्थात् राष्ट्र की श्रेष्ठता प्रजा से कही जाती है। चाणक्य तो इस बात को अनेक स्थानों पर कहता है। "पुरुष वृद्धि राज्यम्" "अपुरुषागौर्वन्ध्येवत्किं दुहीत।"[3] जिस भूमि में पुरुषों का आश्रय प्राप्त हो वही भूमि श्रेष्ठ माननी चाहिए क्योंकि राज्य का मूलाधार तो पुरुषों पर ही होता है। पुरुषहीन भूमि वन्ध्या गौ की भांति कुछ भी फल देने में असमर्थ होती है। क्योंकि "जनपद: सर्व कर्मणां योनि:"[4]। जनपद ही सम्पूर्ण कर्मों का आधार होता है। राज्य तो बिना जनपद के हो ही नहीं सकता।[5]

राज्य और भूमि दोनों के होने पर भी जबतक उस भूमि से मानवीय भावनाऐं जुड़ी नहीं होंगी, उनमें राष्ट्रीयता का भाव उत्पन्न नही होगा। तब तक तो वह भूमि ईंट पत्थर एवं धूल के ढेर से अधिक महत्त्व प्राप्त नहीं कर सकती। परन्तु जब उस भूमि के साथ भावनाएं

---

1. यजु० 22.22
2. अथर्व० 12.3.10
3, कौ० अर्थ० 7.11.32-33
4. कौ० अर्थ० 7.14.32
5. न ह्यजनो जनपदो राज्यमजनपदं वा भवतीति कौटल्य:।
कौ० अर्थ० 13.4.5

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संयुक्त हो जाती हैं, वह भूमि भली प्रकार मनुष्यों के द्वारा धारण की जाती है तो वही शिला, पत्थर धूलिमय धरती हिरण्यवक्षा होकर सभी के द्वारा नमन के योग्य हो जाती है।[1] उस पृथिवी के पहाड़, जंगल भी सुख देने वाले हो जाते हैं। उसकी रात-दिन प्रस्रवित होने वाली नदियाँ मानों हमें वर्चस्व से सिंचित करती। तब वह भूमि इस राष्ट्र में उत्तम तेज एवं बल स्थापित कर देती है।[2] उस राष्ट्र का नागरिक अपनी भूमि के सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है और अनायास ही कह उठता है–"माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।"[3] यह भूमि मेरी माता है और मैं इस धरती माता का पुत्र हूं। हे धरती माता! तू मेरे लिए सदा कल्याणकारी बनी रहे।[4]

हम जहां कहीं भी रहें चाहे ग्राम हो या वन, मनुष्यों की चिन्तनमयी सभाएँ हों या संग्राम भूमि, चाहे समिति में हों। भूमि के लिए सदा ही उत्तम शब्दों का प्रयोग करें। कभी राष्ट्र के लिए अपशब्द न कहें।[5] न दुर्भावना को ही पनपने दें। अनेक प्रकार के कर्मों को करने वाले, भिन्न 2 भाषाओं को बोलने वाले मनुष्य इस भूमि पर वैसे ही प्रेम पूर्वक निवास करें, जैसे कि एक घर में रहने वाले मनुष्य प्रेम पूर्वक रहते हैं। जिस राष्ट्र में रहने वाले, नाना भाषाओं को बोलने वाले मनुष्य सदा आनन्द एवं मस्ती में नाचते गाते रहते हैं। परन्तु विलासी नहीं हैं, अतः अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए आवश्यकता होने पर नगाड़े बजाते हुए युद्ध के लिए तैयार रहते हैं और शत्रुओं को कुचलकर अपने राष्ट्र को शत्रुरहित बना देते है।[6] अपने राष्ट्र की कल्याणकारी स्थिति से सन्तुष्ट होते हुए कहते हैं "हे भूमि माता मुझे कल्याण से सुप्रतिष्ठित कर दो।"[7]

---

1. अथर्व 12.1.26।
2. वही 12.1.8-9।
3. वही 12.1.12।
4. वही 12.1.32 ॥ स्वस्ति भूमे नो भव ॥
5. वही 12.1.56 ॥
6. वही 12.1.41 ॥
7. भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ॥ अथर्व 12.1.63।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सप्तावयव राज्य

प्राचीन भारत में पूर्ण राजनैतिक जीवन का प्रतिबिम्ब हमें दिखाई देता है। तत्कालीन राजनैतिक जीवन भी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर आधारित था। राजा को अपनी प्रजा के कल्याण, लोकहित का पूर्ण ध्यान रखना पड़ता था। इसलिए वैदिक साहित्य में राज्य के सावयव रूप की कल्पना प्राप्त होती है। यजुर्वेद में कहा गया है कि "यह राष्ट्र ही मेरी पीठ है, मेरा उदर, स्कन्ध, ग्रीवा, उरु आदि सभी अंग ये प्रजाएं हैं।"[1]

उत्तर वैदिक साहित्य में इसी भावना का पर्याप्त विस्तार हमें प्राप्त होता है। मार्कण्डेय पुराण में कहा गया है–

"प्रज्ञा प्राकार संयुक्तमस्थिस्थूणं परं महत्।
चर्मभित्तिमहारोमांस शोणित लेपनम्॥
नव द्वारं महायासं सर्वतः स्नायुवेष्टितम्।
नृपश्च पुरुषस्तत्र चेतनावानवस्थितः॥
मंत्रिणौ तस्य बुद्धिश्चैवाविरोधिनौ
यतेते वैर नाशाय तावुभावितरेतरम्॥
नृपस्य तस्य चत्वारो नाश मिच्छन्ति विद्विषः।
काम क्रोधस्तथा लोभोमोहश्चान्यस्तथारिपुः॥
यदा तु नृपतिस्तानितराण्यावृत्यतिष्ठति।
सदा सुस्थबलश्चैव निरातंकश्च जायते॥"[2]

शुक्रनीति में कहा गया है कि इस राज्य का "राजा मूर्धास्थानीय है। अमात्य एवं सुहृत् श्रोत्रस्थानीय हैं। कोश ही मुख रूप है। सेना ही मन है। दुर्ग ओर राष्ट्र ही हाथ पैर हैं। इस प्रकार ये सात राज्याङ्ग कहे गए हैं।[3]

महाभारत शान्तिपर्व में भी इस सप्तांग राज्य के स्वरुप का

1. यजु० 20-8॥
2. मार्कण्डेय पुराण अध्याय 3.59-63॥]
3. शुक्रनीति 1.61-62।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पष्टीकरण किया गया है।[1]

कौटिल्य तो अवयव शब्द ही इनके लिए प्रयुक्त करते हैं।[2] उपर्युक्त प्रमाण राज्य की सावयव कल्पना को ही पुष्ट करते हैं। पर इतना तो स्वीकार करना ही चाहिए कि कालान्तर में विकसित सप्तांग की कल्पना अत्यन्त पुष्ट नहीं थी। कहीं भी इसप्रकार की संख्या तथा उस संख्या से राज्य के अंग अथर्ववेद या उससे पूर्व नहीं गिनाए गए हैं। जैसा कि डा० श्यामलाल पाण्डेय भी स्वीकार करते हैं कि 'प्राचीन भारत के साहित्य में राज्य के सावयव स्वरूप (Organic mature of the state) की कल्पना के प्रमाण संकेत रूप में ही हैं। प्राचीन भारत में लगभग सभी राजशास्त्र प्रणेताओं ने राज्य का सप्तांग रूप स्थिर किया है।"[3]

राज्य शासन पद्धतियाँ:—

ऐतरेय ब्राह्मण में नाना प्रकार के राज्यों की चर्चा की गई है। "पूर्व दिशा के राज्यों में जो राजा चुने जाते हैं वे सम्राट् कहे जाते हैं अर्थात् सम्राट् पद पर उनका अभिषेक होता है। दक्षिण के शक्तिशाली राजा भोज्य पद पर अभिषिक्त होते हैं। पश्चिम के शासक स्वराज्य पद पर अभिषिक्त होकर स्वराट् कहलाते हैं। उत्तर के हिमालय के राज्यों में वैराज्य प्रणाली के शासक विराट् कहे जाते हैं। मध्यदेश के शासक राजा पद वाची होते हैं।"[4]

डा० सत्यकेतु जी के अनुसार "सम्राट वे थे जो वंश क्रमानुगत राजा होते हुए भी शक्ति विस्तार के लिए अन्य राज्यों का मूलोच्छेद करने को तत्पर रहते थे······भौज्य······वंशक्रमानुगत न होकर कुछ निश्चित समय के लिए राजा के पद पर नियुक्त होतेथे। स्वराट् शासक वे थे जिनकी स्थिति सभाओं में ज्येष्ठ की होती थी··· संभवत: वैराज्य

1. आत्माऽमात्याश्च कोशश्च दण्डो मित्राणि चैव हि।
   तथा जनपदाश्चैव पुरं च कुरूनन्दन:।
   एतत्सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः॥ महा. शान्ति 69-65॥
2. प्रकृत्यवयवानां तु व्यसनस्य विशेषत:। अर्थशास्त्र 8.1.66।
3. मनु का राजधर्म पृ० 7।
4. ऐतरेय ब्राह्मण 8.3.3॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनपद वे थे जहाँ जनता अपना शासन स्वयं करती थी। यह पद संभवत: गणतंत्र जनपदों का परिचायक है"[1] इस कथन के अनुसार तत्कालीन भारत में निरंकुश राजतंत्र, विशुद्ध गणतंत्र तथा समूह द्वारा नेतृत्व इत्यादि अनेक शासन पद्धतियाँ प्रचलित थीं। प्रतीत होता है कि स्वराट् से डा० सत्यकेतु जी का तात्पर्य वही है जो चाणक्य का कुलराज्य से है अर्थात् सिंहासन पर सम्पूर्ण कुल की पंचायत का राज्य हो। आचार्य चाणक्य कहते हैं "कुलस्य वाभवेद्राज्यं कुलसंघो हि दुर्जय:।"[2]

डा० जायसवाल के अनुसार "भारत में राजकीय शासन के बहुत बाद और आरंभिक वैदिक युग के उपरान्त प्रजातत्र शासन की प्रथा चली थी।"[3] परन्तु सम्पूर्ण वैदिक साहित्य पर दृष्टिपात करने पर यह पूर्ण स्पष्ट हो जाता है कि कि राजपद का विकास जनतांत्रिक प्रणाली से हुआ था। स्वयं राजा शब्द की व्युत्पत्ति इसका प्रमाण है। समाज के प्रति राजा का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व था। समाज, सभा व समिति एवं पुरोहित के माध्यम से उस पर नियंत्रण रखता था। डा० शिवदत्त ज्ञानी मानते है कि "राजतंत्र के रहते हुए भी राजनैतिक वातावरण पूर्णतया जनतांत्रिक था। ऐसे ही जनतांत्रिक वातावरण में गणतंत्र संविधान पल्लवित व पुष्पित हो सकता था।"[4]

वैदिक काल में गण शब्द हमें बहुत स्थानों पर प्राप्त होता है। यह गण शब्द ही गणराज्य का मूल है। श्री हरीश चन्द्र शर्मा के अनुसार यह गण शब्द ऋग्वेद में चालीसबार, अथर्ववेद में नौ बार, यजुर्वेद में तथा ब्राह्मण ग्रंथों में अनेक बार प्रयुक्त हुआ।[5] महाभारत में गण शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से गणराज्य के लिए किया गया है।[6] पाणिनी ने भी गण शब्द का प्रयोग किया है। इससे प्रतीत होता है कि वे उसे गण-

1. डा. सत्यकेतु विद्यालंकार-प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राज्यशास्त्र-।
2. कौ.अर्थ.- 1-17-55॥
3. हिन्दू राज्यतंत्र पृ. 31।
4. वेदकालीन समाज पृ. 211।
5. प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, पृo 322
6. महा. शान्तिपर्व-107

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य का प्रतीक मानते थे।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य है कि प्रारंभ से ही गणतंत्र शासन प्रणाली का प्रादुर्भाव हो गया था और प्रारम्भ से अन्त तक सम्पूर्ण वैदिक साहित्य इस कथन को पुष्ट करता है। यजुर्वेद में गण[1] एवं गणपति शब्दों का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। क्योंकि यजुर्वेद (16-25)[2] में आये हुए गण एवं गणपति शब्द के बाद ही अगले मंत्रों में सेनानी, रथी, क्षत्ता, संग्रहीता आदि का उल्लेख है। ये शब्द स्पष्ट ही राजनैतिक जीवन से सम्बन्धित हैं। भारतीय वंश परम्परा में गणपति की पूजा भी इसी का प्रतीक है। अतः डा० देवीदत्त शुक्ल का कथन सर्वथा समीचीन है कि "भारतीय विद्वानों ने सर्वप्रथम जनतंत्र शासन की ही कल्पना की थी। भारत में राज्य की उत्पत्ति सर्वप्रथम जनतंत्र के रूप में हो हुई थी और वैदिक काल में ही जनतंत्र का रूप पूर्णतः विकसित हो चुका था।"[3]

श्री प्रो० रामदेव जी के अनुसार "आर्यों के कई प्रकार के राज्य थे जिनमें से सार्वभौम राज्य सर्वोपरि था।"[4] उन्होंने उक्त कथन राज्य पद्धतियों के अन्तर्गत लिखा है परन्तु यह पद्धति न होकर साम्राज्य की विशालता अर्थात् चक्रवर्तित्व की ओर इंगित है। ऐतरेय ब्राह्मण में सब जगह फैले हुए राज्य को सार्वभौम कहा गया है अर्थात् जो राज्य पृथिवी से समुद्र पर्यन्त हो।[5] ऐतरेय 7-5-8 में अनेक चक्रवर्ती सम्राटों का परिगणन भी किया गया है।

अथर्ववेद में गणराज्य के बदले "जन राज्ञः" शब्द भी प्राप्त होता है जो हमारी इस गणतंत्रात्मक विचारधारा को और भी पुष्ट करता है।[6] अतः वैदिक राजनीतिक जीवन पूर्णतः जनतांत्रिक सिद्धान्तों पर

1. नमोगणेभ्यो गणपतिभ्यः—यजु० 16.25
2. गणानां त्वा गणपतिं हवामहे। यजु० 23.19
3. प्राचीन भारत में जनतंत्र—हिन्दी समिति लखनऊ पृ० 17
4. भारतवर्ष का इतिहास—खण्ड 2 पृ० 337
5. साम्राज्यं··· समन्त पर्यायी स्यात् सार्वभौमः······आन्तादापरार्द्धात् पृथिव्यै समुद्र पर्यन्ता या एक राडिति। ऐतरेय,पंजिका 8, अध्याय 4, खण्ड 1
6. अथर्व० 20.21.9

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आश्रित है। प्रत्येक मनुष्य अपने अधिकार एवं कर्त्तव्यों के प्रति सजग है।

डा० शिवदत्त ज्ञानी के अनुसार "यह सचमुच में वेदकालीन राजनैतिक जीवन की विशेषता है कि उस युग में आठ प्रकार के संविधान विकसित हुए थे, जिनके अन्तर्गत राजतंत्र, गणतंत्र आदि का समावेश हो जाता था। तत्कालीन राजनैतिक जीवन के ऊंचे आदर्श, जिनका समावेश वरुण व इन्द्र सूक्तों में तथा सभा व समिति आदि के वर्णन में हुआ है। अवश्य किसी भी देश के लिए गौरव की बात हो सकते हैं।"[1]

राष्ट्र एवं उसका विस्तार :–

प्रजा अपने राष्ट्र के प्रति अत्यधिक भक्ति रखने वाली हो तो राष्ट्र की उन्नति शीघ्रता एवं सरलतापूर्वक होती है। "मैं भूमि माता का पुत्र हूं तथा यह भूमि मेरी माता है।"[2] इस प्रकार की भावनाएं जिस समाज में हों वहाँ प्रगति का चक्र कभी नहीं रुक सकता है। इसीलिए भूमि के लिए वशा शब्द का प्रयोग भी मिलता है।[3] राजा को भी वशा का पुत्र कहा गया है।[4] वास्तव में वशा नाम से भूमि का वर्णन है। सायणाचार्य कृत बन्ध्या गौ अर्थ कहीं भी संगत नहीं होता है।

राष्ट्र के विशेषण देते हुए आथर्वणिक ऋषियों का कथन है कि वह भूमि विश्वंभरा हो, नाना प्रकार के धन धान्यों से पूरित हो, प्रतिष्ठित हो, उसके गर्भ में अनेक प्रकार के स्वर्णादि हों, सभी को वह अपने में बसा सकने में समर्थ हो।[5] वश कान्तौ धातु से कमनीयता या कामना का विषय बनने के कारण पृथिवी को ही वशा कहना अधिक उपयुक्त है। यदि वशा का अर्थ गौ ही करना है तो सम्प्रारण करके बनने वाले उशिक् शब्द का अर्थ ऋषि कैसे होगा। अतः वशकान्तौ से बनने वाले वशा शब्द का अर्थ पृथ्वी ही है। संहिताओं में, एवं निरुक्त तथा साहित्य में गौ का अर्थ भी पृथ्वी है। उपर्युक्त विशेषणों से युक्त राष्ट्र वही हो सकता है जो लम्बा, चौड़ा, विस्तीर्ण हो। जिसमें पर्वत, मैदान,

---

1. वेदकालीन समाज पृ० 215
2. अथर्व० 12.1.12
3. बशापृथिवी। अथर्व० 10.10.30
4. वशा माता राजन्यस्य। अथर्व० 10.10.18
5. अथर्व० 12.1.6

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निम्न प्रदेश आदि सभी प्रकार की भूमि हो। सभी प्रकार के औषध एवं अन्नों को उत्पन्न करने वाली हो, जो समुद्र एवं पर्वतों से संयुक्त हो।[1] वैसे तो भूमि, मात्र पत्थर एवं धूल, मिट्टी का ढेर ही होती है परन्तु जब उससे मानवीय भावनाएं जुड़ जाती हैं, तभी उसे मातृत्व प्राप्त होता है। हम पृथ्वी को मृण्मयी नहीं मानते अपितु उसे चिन्मयी मान-कर ही वन्दे मातरम् का घोष करते हैं। वैदिक ऋषियों की भावना को प्रकट करते हुए आचार्य चाणक्य राष्ट्र (जनपद) की विशेषता बताते हुए कहते हैं–"वह पर्याप्त स्थान वाला अर्थात् विस्तृत होना चाहिए, उसके मध्य एवं सीमान्त पर पुर होने चाहिए। उसका क्षेत्र इतना हो कि वह अपने निवासियों एवं बाह्य लोगों का भी पालन कर सके। आत्मरक्षा के सब साधन हों, जो आत्मनिर्भर हों तथा शत्रु का पराभव कर सकें। जिसमें दल दल, पथरीली, ऊसर, उबड़ खाबड़ व कटीली भूमि न हो, सर्प एवं जंगली पशुओं का आधिक्य न हो, देखने में सुन्दर हो, कृषि भूमि, खानों एवं हाथियों तथा उत्तम लकड़ी के जंगल हों, बड़ी-2 चरागाह हों। उत्तम जलवायु हो, पशुओं की प्रचुरता हो, जो सिंचाई के लिए केवल वर्षा पर आधारित न हों। जिसमें स्थल एवं जल मार्गों की सत्ता हो। जहाँ विविध प्रकार के पदार्थ उपलब्ध हों, सेना एवं करों का भार उठाने की क्षमता हो, किसान कर्मशील हों, निवासी बुद्धिमान हों तथा राष्ट्र से प्रेम करने वाले एवं सदाचारी हों।"[2]

राष्ट्र के विस्तार के लिए भी प्रयत्न किये जाने चाहिए। जिनमें से एक तो शत्रु को युद्ध में पराजित करके तथा दूसरा उपाय नीति एवं संस्कृति द्वारा आक्रमण करके, अपने राष्ट्र का विस्तार किया जा सकता है।

शत्रु को जीत लेने पर उसकी भूमि पर सेना द्वारा अधिकार कर लिया जाता है।[3] शत्रु के मर जाने पर (भूमि के पुत्र रूप राजा के दिवं-गत हो जाने पर) उस पर अधिकार कर लिया जाता है तथा उसके कोष पर स्वामित्व प्राप्त कर लिया जाता है।[4]

1. अथर्व० 12.1.2-3
2. कौ० अर्थ० 6.1। तुलना करें अथर्व० 12.1 तथा यजु० 22.22
3. अथर्व० 11.9.4
4. वही 10.1.10

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विजित प्रदेश का शासन प्रवन्ध ठीक करने के लिए चार प्रकार से प्रयत्न किये जाते हैं। एक तो शत्रु प्रदेश को जीतने वाला वीरों का दल। दूसरा विजित प्रदेशों की रक्षा करने वाला दल। तीसरा प्रजा के सुख-दुःख का ध्यान रखने वाला दल। चौथा उस प्रदेश एवं पड़ौसी प्रदेशों की भावनाओं को जानकर उसकी सूचना इकट्ठी करने वाला दल।[1] राष्ट्र को नागरिकों का ध्यान उसी प्रकार रखना चाहिए जैसे पिता पुत्र का ध्यान रखता है या माता अपने शिशु की प्रयत्नपूर्वक रक्षा एवं उन्नति करती है।[2]

नीतियां :—

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत हमें स्पष्ट रूप से दो प्रकार की नीतियाँ दिखाई देती हैं। एक तो सरल एवं निष्कपट व्यवहार, जो शत्रु से भी उसी प्रकार किया जाता है जैसे मित्रों से। सामान्यतः इसी नीति का पालन एवं प्रेरणा की प्रार्थनाएँ प्राप्त होती हैं।

दूसरी छल-छद्मयुक्त नीति, जो सदा शत्रुओं में ही व्यवहृत होती हैं और विशेषकर छली शत्रुओं के साथ तो वही कार्यान्वित की जातीहै। इन्द्र सम्बन्धी सूक्तों में तो अनेकत्र इस प्रकार के वर्णन प्राप्त होते हैं। इसके लिए शर्धनीति एवं वर्पनीति ये दो शब्द प्राप्त होते हैं। इनकी व्याख्या करते हुए सायणाचार्य कहते हैं कि "शर्धः हिंसकं बलं···तस्य नीतिर्नयनं प्रापणं यस्य स तथोक्तः। शत्रुं प्रति स्व बल प्रापक इत्यर्थः ···तथा स एव इन्द्रः वर्पनीतिः। वर्प इति रूप नाम तस्य नेता। युद्धे शत्रुं प्रति स्व शरीर प्रापक इत्यर्थः।··· तादृशः सन् मायिनाम् मायावताम् असुराणाम्··· ।"[3]

वह इन्द्र कपट द्वारा कपटियों को पीस डालता है। शत्रुओं का पराभव करने वाले उस इंद्र ने अपने छल-बल से दुष्टों को दूर कर दिया।[4] इसी प्रकार अन्यत्र भी, इस प्रकार की, छल-बल सम्बन्धी नीतियों का वर्णन प्राप्त होता है। "हे इन्द्र त्वं मायाभिः आत्मीयाभिर्वञ्चनाभिः

1. अथर्व० 6.107.1-4
2. वही 12.3.12,23
3. अथर्व० 20.11.3 में आचार्य सायण।
4. वही 20.11 6

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्सिसृप्सत ··· ।"[1] वह इन्द्र इस छलपूर्ण नीति के लिए नाना रूपों एवं आकारों का भी आश्रय लेता है। "वह इन्द्र प्रत्येक आकृति के अनुसार प्रत्येक रूप को धारण कर लेता है। उसका वह रूप देखने के लिए होता है। इस कार्य में उसकी शक्तियां सहायक होती हैं।"[2]

इन्द्र के अतिरिक्त अग्नि भी छली शत्रुओं को दूर कर देता है। "जो दुष्ट छल करने वाले असुर, अपनी भावनाओं को छिपाकर पृथिवी में जहाँ कहीं भी जावें। हे अग्निदेव! ऐसे स्वार्थी लोगों को दूर करो।"[3] वे मूर्ख लोग सदा पराभव को प्राप्त होते हैं जो छली पुरुषों के साथ छल का व्यवहार नहीं करते हैं। इसलिए यथावसर नीति का प्रयोग करना चाहिए। जैसे जल उबलता है पर समय आने पर चावलों के साथ एक जुट हो जाता हैं। इसीप्रकार अवसर पड़ने पर लड़ने के कार्य को छोड़ कर शत्रु में पूरी तरह मिलकर कार्यसिद्धि करनी चाहिए।

कालिदास कहते हैं केवल मात्र नीति तो कायरता है और मात्र शौर्य श्वापद चेष्टा होती है। अतः नीति और शौर्य दोनों को मिलाने से ही सिद्धि प्राप्त होती है।[4]

---

1. अथर्व० 20.29.4 में सायणाचार्य।
2. रूपं रूपं प्रतिरूपौ··· ।। ऋग्वेद 6.47.18
3. यजु० 2.30
4. कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापद चेष्टितम्। अतः सिद्धि समेता-भ्यांमन्वीयेष सः। रघुवंश 17.47

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृतीय अध्याय

राजा और राजत्व :-

राजनीति का सम्पूर्ण प्रासाद जिस स्तम्भ पर खड़ा होता है वह है राजा। सारी ही नीति उसके चतुर्दिक घूमती है। समस्त राजनीति का आश्रय रूप केन्द्रविन्दु राजा ही है। वैदिक ऋषियों ने अपनी क्रान्त-दर्शी प्रज्ञा से इस सत्य का अवलोकन किया था कि "राजा से रक्षित भूमि ही स्थिरता सम्पन्न राष्ट्र का रूप धारण कर सकती है। तभी नागरिक अहत, अक्षत और विजयी होकर चिरकाल तक रह सकते हैं।"[1] इसलिए अथर्वा ऋषि ने बृहस्पति से प्रार्थना की कि "हे देव ! हमें राजा से प्रेरित एवं अनुप्राणित राष्ट्र प्रदान करो।"[2]

जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा, राजा बनकर कमनीय शोभा को प्राप्त करता है उसी प्रकार निर्बल प्रजाएं, अपनी शक्ति से सबको अनुकम्पित कर देने वाले पुरुष को अपना राजा बना लेती है और उसे कल्याण प्रदान करती हैं। जिससे यह राष्ट्र उसका हो जाये अथवा वे इस राष्ट्र को उसको सौंप देते है। वह दिन प्रजा के लिए मंगलदायक हो जाता है।[3] जिससे उस राष्ट्र एवं प्रजा में अनुग्राह्य अनुग्राहक भाव बना रहे। अतः ज्ञानशील विद्वान् पुरुषों को चाहिए कि राष्ट्र को रक्षा, दीर्घायु एवं क्षत्र तथा स्वाभिमान की रक्षा के लिए वीर पुरुष को राजा के रूप में स्वीकार करें।[4]

आचार्य चाणक्य भी कहते हैं कि मत्स्यन्याय से पीड़ित होकर ही प्रजाओं ने पुराकाल में वैवस्वत मनु को अपना राजा चुना था।[5] भगवान वेदव्यास प्राचीन वैदिकों का मत बताते हुए कहते हैं कि "मनुष्य को राजा रहित राष्ट्र में कभी नहीं रहना चाहिए।"[6]

---

1. अथर्व० 12.1.11
2. वही 6.39.2
3. वही 6.128.1
4. वही 19 24.1-2
5. कौ० अर्थशास्त्र 1.13.6
6. महाभारत शान्ति 66.5

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृत के आदिकवि बाल्मीकि अपने रामायण महाकाव्य में कहते हैं कि "राजा रहित राष्ट्र विनाश को प्राप्व हो जाता है। ऐसे राष्ट्र में पुत्र एवं भार्या भी वश में नहीं रहते हैं। धन तो प्राप्त होता ही नहीं है। ऐसे राज्य में लोग सभा एवं समिति इत्यादि भी नहीं करते हैं।[1]

ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि "देवासुर संग्राम में हारने पर देवों को अनुभव हुआ कि हमारी पराजय का कारण यही है कि हम लोगों में कोई राजा नहीं है। अत: हम लोगों को एक राजा निर्वाचित करना चाहिये।[2] सर्वत्र हो वेदों में राजा का प्रमुख कर्त्तव्य राष्ट्र की रक्षा एवं शत्रुओं की पराजय, बताया गया है। राजा से प्राय: ही यह प्रार्थना की गई है कि "हे वीरवर तुम्हारे साथ मिलकर हम शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें।"[3] हे बलवान राजन् आप दृढ़ सेना से युक्त हैं राष्ट्र को देने वाले हैं, मुझे उत्तम राष्ट्र प्रदान कीजिये।"[4]

राजा को राष्ट्र एवं राष्ट्रवासियों के लिये इतना आवश्यक बताया गया है कि वे परस्पर एक-दूसरे के पूरक ही हो गये हैं। एक के बिना दूसरे की सत्ता नहीं रहती। राजा के प्रति कामना की गई है कि "ये प्रजाएं तुझे अनुप्राणित करें और तू इन प्रजाओं को अनुप्राणित कर।"[5]

राजा के गुण :-

राजा के गुणों पर विचार करने से पूर्व यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि इन्द्र शब्द से राजा के गुणों को स्पष्ट किया गया है। ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद 3.51 की व्याख्या करते हुए इन्द्र का अर्थ सभापति किया है। सायणाचार्य भी इन्द्र को राजा के रूप में स्वीकार करते हैं। साथ ही दैविक अर्थों में भी स्वीकार करते हैं। यजुर्वेद में कहा गया है कि जब राज्य या क्षत्रियों का निर्माण हुआ तो इन्द्र उसका अधिपति बना।[6] अथर्ववेद के "इन्द्रः क्षितिनामसि मानुषीणां विशां

1. रामायण अयो॰ 43.8-12
2. ऐतरेय ब्राह्मण 1.14
3. ऋग्वेद 9.35.3
4. यजु॰ 10.2
5. प्रजास्त्वाऽनुप्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिहि। यजु॰ 4.25
6. ...क्षत्रमसृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीत्। यजु॰ 14.29

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दैवीनामुत पूर्वयावा (20.11.2) मन्त्र की व्याख्या में वे कहते हैं कि हे इन्द्र आप भूमि पर रहने वाली मानुषी प्रजाओं और देवी प्रजाओं के भी अग्रगामी हैं।

अथर्ववेद के पुरुहन्मा ऋषि इन्द्र देवता के मन्त्रों में उन्हें राजा "चर्षणीनाम्[1] अर्थात् मनुष्यों का राजा कहकर सम्बोधित करते हैं। विश्वामित्र "विश्पति" (20.6.3) का प्रयोग करते हैं। इसी को प्रगाथ ऋषि और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में "त्वं राजा जनानां" कहते हैं। पाणिनी इदि परमैश्वर्ये धातु से इन्द्र शब्द को निष्पन्न करते हैं। ऐश्वर्य संपन्नता ही राजा के अभिप्राय को स्पष्ट करती है। अतः सामान्य रूप से इन्द्र के सभी गुण राजा के गुण माने जाते हैं। फिर भी वैदिक देव इन्द्र, पुराकथा शास्त्रीय रूप मे राजा के गुणों के अन्तर्भुक्त नहीं हो जाते हैं। इसलिये पृथक् रूप से राजा के गुणों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

राजा के सम्पूर्ण गुणों को यदि हम एक वाक्य में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि प्रजा को पूर्ण विश्वसनीय आश्रय दे सकना ही सबसे महान गुण है। यजुर्वेद में कहा गया है कि सौम्य गुण सम्पन्न राजा तू सम्पूर्ण प्रजाओं के समीपवर्ती होकर उनकी रक्षा कर, समस्त प्रजाएं तुझ पर आश्रित हों।[2] राजा के सम्पूर्ण गुणों को इसके अन्तर्गत लाया जा सकता है।

राजा के लिए आवश्यक सर्वप्रमुख गुण है उसकी वीरता। क्योंकि वीर पुरुष का नेतृत्व ही प्रजा को सुरक्षा का विश्वास दिला सकता है। अतः वैदिक ऋषियों ने कहा है "हे राजन् तू श्रेष्ठता को धारण कर तेरे प्रतिद्वन्द्वी शत्रु तुझसे सर्वत्र न्यून ही रहें।"[3] चाणक्य भी राजाओं का धन पराक्रम ही मानते हैं।[4] जो राजा संग्राम में बड़े-2 दम्भियों का अभिमान खण्डित कर देता है। अच्युत को च्युत कर सकता है। प्रसन्नतापूर्वक युद्ध भूमि में जाने वाला है और सम्मुख आने वाले वीर शत्रुओं को भी जीत लेता है। ऐसे राजा से रक्षित राज्य में ही धन-

1. अथर्व० 20.92.16
2. यजु० 6.26
3. अथर्व० 4.22.6
4. चाणक्य सूत्र 182

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धान्यादि प्राप्त होते हैं।' वहीं प्रजा का योगक्षेम होता है। राजा को यह सोचकर उत्साह के साथ युद्ध में जाना चाहिये कि मैं जयशील हूं और मेरे शत्रु तो मेरे सामने टिक नहीं सकते। ऋषि कहता है कि "हे राजन् तू सिंह के समान इन प्रजाओं का आधिपत्य स्वीकार कर और व्याघ्र के समान भयंकर होकर शत्रुओं को दूर कर।"[2] इस प्रकार प्रजाओं की कामनाओं को पूर्ण करने वाला, विजेता होकर, दुरभिमानी शत्रुओं के भोग्य पदार्थों को नष्ट कर दे। राजा के वीरतापूर्वक आगे बढ़ने पर सैनिक भी उत्साह सम्पन्न हो जाते हैं। 'कि हम राजा के क्रोध के भावों से भरकर ही शत्रुओं की सेनाओं को जीत लेवें (अथर्व० 7.93.1)। शत्रु को निर्बल समझने मात्र से कार्यसिद्धि नहीं हो जाती है अतः राजा शत्रु के बल, सामर्थ्य को पूरी तरह समझकर कार्य करने वाला अनुभवी होना चाहिये।"[3]

राजा के लिये "आखण्डल" विशेषण अत्यन्त महत्वपूर्ण है।[4] जो शत्रुओं से किये जाने वाले व्यवहार को सूचित करता है। इसी प्रसंग का शब्द "शाचि पूजन" शक्तिशालियों द्वारा भी पूजनीय होने का भाव अभिव्यक्त कर रहा है। शत्रु के किलों एवं नगरों को तोड़ने के कारण विशेषण "पुरन्दर" और 'पूर्भिदः'' भी हैं।[5] अथर्ववेद में इन्द्र को "सत्राजित" (20.10.1) भी कहा गया है। अर्थात् एक बार में ही सम्पूर्ण शत्रुओं को जीत लेने वाला। शत्रु विजय कर लेने के बाद कोई भी उसका विरोध करने का साहस नहीं करता और वह "अशत्रुः" "अजातशत्रुः"[6] हो जाता है।

वीर होने का तात्पर्य हर समय रुद्र भावों का धारण नहीं है। वीर शब्द का अर्थ है "विविधम् ईरयति इतिवीरः" जो शत्रुओं को इधर-

1. अथर्व० 5.20.12
2. वही 4.22.7
3. वही 19.13.5
4. अथर्व० 20.5 की व्याख्या में आचार्य सायण "आसमन्तात् खण्डयति शत्रून्" इति॥
5. वही 20.11.1
6. वही 20.95.3। ऋक्० 8.93.15

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उधर तितर-बितर कर देता है। अर्थात् उनका धैर्य भंग कर देता है। वीर शब्द का यह भी अर्थ हो सकता है कि "विशिष्टा इरा (मदः, मदिरा) यस्यासौ वीरः। अर्थात् जिसमें विशेष रण मद भरा हो। राजा को सुन्दर स्वास्थ्य का स्वामी होना चाहिए। अथर्ववेद में कहा गया है "राजा दृढ़ गर्दन, विशाल छाती और लम्बी भुजाओं वाला हो।"[1] इस मन्त्र की स्पष्ट प्रतिछवि हमें कालिदास के रघुवंश में मिलती है कि "राजा चौड़ी छाती वाला, बैल के समान मजबूत कन्धों वाला तथा शालवृक्ष के समान लम्बो व दृढ़ भुजाओं से युक्त हो।"[2] "उस राजा में मानो सारे ही तेजस्वी रूप मिले हुए होते हैं।[3] "तभी वह अग्नि के समान अपितु अग्नि से भी अधिक दीप्तिमान हो जाता है। स्वयं अग्नि के तुल्य दीप्त पुरुष ही महान क्षत्र का स्वामी बन सकता है।[4]

उत्तम शरीर के साथ श्रेष्ठ संकल्प तो मानों जुड़े हुए से हैं तभी व्यक्तित्व की पूर्णता प्राप्त होती है। अतः राजा को व्रतधारी होना चाहिए।[5] राष्ट्र में जो भो न्यूनता होगी मैं इन प्रजाओं का अधिपति होने के नाते उसे पूर्ण करूंगा।[6] इस महान कार्य के लिए महान तपस्वी (अथर्व० 20.34.1) होना चाहिए। आचार्य चाणक्य का मत है कि सर्वभूतहित में अनुरक्त रहने वाला, सभी का हित साधन करने वाला ही सम्पूर्ण पृथिवी का भोग कर सकता है।[7] आगे चलकर इसी को व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि अपनी उन्नति, यज्ञ, प्रजा से कराये जाने वाले कर्म, दान, इत्यादि सब पर समान दृष्टि रखनी चाहिये। धर्मानुसार कर्त्तव्य कर्म करना ये राजा के व्रत हैं। अर्थात् प्रजा के सुख में सुख और प्रजा के हित में ही हित समझना चाहिए। इससे पृथक् राजा का कोई प्रिय या हितकर कार्य नहीं है। प्रजा का प्रिय एवं हित ही सर्वो-

1. तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुः–अथर्व० 20.5.2
2. व्यूढ़ोरस्कः वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः। रघुवंश 1.13
3. अथर्व० 20.30.3
4. ऋक्० 4.12.3
5. ···ततोधृतव्रतोराजा··· अथर्व० 7.83.1
6. यत्त ऊनं तत्त आपूरयाति प्रजापति ·· वही 12.1.61
7. कौ० अ० 1.5.18

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परि है (कौ० अ० 1.19.38-39)। इसी बात को अथर्ववेद में कहा गया है कि सब लोगों का हित करने वाले, सबके शासक सुपरीक्षित राजा की उत्तम स्तुति को सुनो जो देव की भांति मानवों में श्रेष्ठ है।[1]

राजा का इन्द्रियजयी होना एक आवश्यक गुण है। उसके बिना वह प्रजा की रक्षा नहीं कर सकता। क्योंकि ब्रह्मचर्य एवं तप के बल से ही राजा राष्ट्र का रक्षा कर सकता है। (अथर्व० 11.5.17) चाणक्य तो कहते हैं कि इन्द्रियवशवर्ती राजा चतुरंगिणी सेना से युक्त होता हुआ भी नष्ट हो जाता है।[2] मनु महाराज का कथन है कि "राजा के गुणों के इच्छुक पुरुष को चाहिए कि वह "दिन-रात इन्द्रिय जय में संलग्न रहे क्योंकि इन्द्रियजयी ही प्रजाओं को वश में करने में समर्थ होता है।"[3] शुक्रनीति में कहा गया है कि "विषय रूपी मांस के सेवन के लिए मन, इन्द्रियों को प्रेरित करता है। अतः राजा को चाहिए कि वह मन को वश में करके रहे। जो व्यक्ति मन को वश में नहीं कर सकता वह ससागरा मही को कैसे वश में करेगा।[4]

राजा लोक कल्याणकारी राज्य का नेतृत्व तभी कर सकता है जब वह धर्म पर चलने वाला हो। राजा बने हुए, समस्त धर्मों का पालन करने वाले इस राष्ट्राध्यक्ष का प्रजा यशोगान करती है। सत्य का आचरण करने वाले, उत्तम कर्मशील, व्रतधारी क्षत्रिय ही क्षत्रित्व का पालन करके इस साम्राज्य के उत्तम शासन पर बैठ सकता है।[5] इस पुरुष के उत्तम शुद्ध चरित्र को जानकर हो संसद या सैन्य में उसे स्वीकार किया जाता है।[6] संसद या सैन्य का पूर्ण विश्वास प्राप्त करना राजा के लिए बहुत आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है। उस विश्वास से ही राजा में भीं आत्मविश्वास का उद्भव होता है। तब वह कह सकता है कि कर्म मेरे दाहिने हाथ में है और विजय तो बाँये

1. अथर्व० 20.127.7
2. चाणक्य सूत्र 69
3. जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः। मनुस्मृति 7-44।
4. शुक्रनीति 1.99-100
5. ऋक्० 8.25.8
6. ऋक्० 7.4.3

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाथ में रखी हुई है। इसलिए शत्रुओं की भूमि, गाय, घोड़े, धन और स्वर्ण को मैं जब चाहे जीत सकता हूं।[1] परन्तु यह कार्य सिद्धि परस्पर अविश्वास से संभव नहीं है।

भारतीय राजा सदा ही अपने को गो ब्राह्मण प्रतिपाल कहलाने में गर्व एवं गौरव का अनुभव करते रहे हैं। वैदिक राजा भी इसके अपवाद रखी हैं। प्रजा भी उनसे इसकी आशा रखती है कि राजा, ब्राह्मण के वचनों का पालक हो, शिशुओं एवं गौ आदि पशुओं की सतत् जागरूक होकर रक्षा करे।

आचार्य चाणक्य राजा के गुणों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह उच्च कुल का हो, दैवी बुद्धि व दैवी शक्ति वाला हो, वृद्धों की बात सुनने वाला हो, धार्मिक व सत्यवादी हो, विरोधी बात न करे, कृतज्ञ हो, उत्साह सम्पन्न हो, विनय में रहने वाला हो, बुद्धि दृढ़ हो, एवं विशाल परिषद से बंधा हो, तथा सेवा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ज्ञान, ऊहापोह द्वारा तत्व चिन्तक और मेघा शक्ति से संयुक्त होना चाहिए।[2]

राजा बनने का मूल आधार है प्रजा का प्रिय होना। प्रजा का प्रिय वही हो सकता है जो लोकानुरंजन में समर्थ हो। जो अनुरंजन कर सकता है वह ही मतदाताओं के मत प्राप्त कर सकता है। अथर्वा ऋषि राजा शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि वह अनुरंजन करता है तभी राजा बना है।"[3] महाकवि कालिदास इसका अनुमोदन करते हैं।" यथा प्रह्लादनात् चन्द्रः··· राजा प्रकृति रंजनात (रघुवंश 4.12)। व्यास जी भी इसे महाभारत में स्वीकार करते हैं।[4] आचार्य चाणक्य राजा के सुदर्शन रूप के साथ प्रजानुरंजन को अत्यधिक महत्व देते है।[5]

लोकानुरंजन से राजा लोक संग्रही बन जाता है और वह सबका

---

1. अथर्व॰ 7.50.8
2. कौ॰ अर्थ॰ 6.1
3. सोऽरज्यत् ततो राजन्योऽजायत–अथर्व॰ 15.8.1
4. रंजिताश्च प्रजास्सर्वा तेन राजेति शब्द्यते ॥
   महा॰ शान्ति॰ 59.125
5. चाणक्य सूत्र 557

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रिय हो जाने की प्रार्थना करता है कि "मुझे देवों और राजाओं का प्रिय बनाओ, मैं शूद्र या आर्य सबका प्रियभाजन हो जाऊं। सर्वत्र ही प्रिय दर्शन हो। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों और शूद्रों अर्थात् चारों ही वर्णों में प्रिय होऊं।[1]

जब राजा सबका प्रिय बनना चाहता है तो उसे भी प्रजा के प्रति वैसा ही ममत्व रखना चाहिए जैसा कि वह अपने शरीर के प्रति रखता है उसे यह मानकर चलने वाला होना चाहिए कि "यह राष्ट्र ही मेरी पसलियाँ या मेरुदण्ड हैं, यही उदर, स्कन्ध, ग्रीवा और कुक्षि हैं, यही उरु, जंघा और घुटने हैं और प्रजा ही मेरा सर्वाङ्ग हैं।"[2] यहां तक कि राजा प्रीति का उपमेय बन जावे।[3]

राजा का चयन :–

राजा के पद पर सदा क्षत्रिय वर्ग के पुरुष का ही चयन किया जाता है। ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र को राज्य में उनके गुण, कर्मानुसार अन्य कार्य दिये जा सकते हैं। परन्तु राजा का पद दिये जाने का कोई भी विवरण वैदिक संहिताओं में नहीं मिलता है।

यजुर्वेद का मन्तव्य है कि "जो सूर्य के समान तेजस्वी, आन्तरिक आनन्द में रहने वाले, भूमि एवं गौ आदि पशुओं की रक्षा करने वाले कामना करने योग्य सामर्थ्ययुक्त, मनुष्यों का पालन करने वाले, विश्व के भी भरण पोषण में समर्थ, प्रकाशमान हो, ऐसे गुण सम्पन्न क्षत्रिय पुरुष को राज्य प्रदान करके अनाधृष्ट हो जाओ क्योंकि यह पृथ्वी महान् क्षत्रियत्व से ही पालित एवं रक्षित होती है।"[4]

राजा पद का प्रत्याशी होने के लिए यह आवश्यक है कि राजा उसी क्षेत्र एवं उसमें रहने वाली प्रजाओं में से हो। अर्थात् उसका नागरिक होना अनिवार्य शर्त है। अथर्ववेद का "अन्तरभू"[5] शब्द इसका पुष्ट प्रमाण है।

1. अथर्व० 19.62.1, 19.32.8
2. यजु० 20.8
3. राजेव जोषसे–अथर्व 19.49.6
4. यजु० 10.4
5. अथर्व० 6.87.1

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीत होता है कि राजा पद के एकाधिक प्रत्याशी होते थे। वर्तमान काल की भांति वैदिक काल में भी प्रत्याशी विजय के लिए उद्योग किया करते थे, जिनमें सम्पूर्ण प्रजा या मतदाताओं से मत (पर्णमणि) प्रदान करने की प्रार्थना की जाती है।

चयन की दो पद्धतियाँ प्रचलित थीं। पहली वह जिसमें सम्पूर्ण प्रजाएँ प्रत्यक्ष रूप से राजा का वरण करती हैं कि "हे राजन् राज्य प्रबध चलाने के लिए राष्ट्र की सम्पूर्ण दिशाओं में रहने वाली पाँचों प्रकार की मत देने वाली प्रजाएं तुम्हारा वरण करें। चयन होने पर, हे श्रेष्ठ राष्ट्र के उत्तम स्थान पर बैठो और हम प्रजाओं को धन-धान्य से सम्पन्न करो।"[1] चयन के साथ ही प्रजाएं उस राजा से कुछ विशेष आशायें रखती हैं उदाहरणार्थ उपरोक्त मन्त्र में धन की कामना की गई है। कहीं पर पराक्रम करने की, शत्रु दमन करने की प्रार्थना की जाती है। "सारी ही प्रजाएं तुझे चाहने वाली हों और तू अपना महान् पराक्रम प्रदर्शित कर।"[2]

राजा का चयन करने वाली इस प्रजा में बहुत छोटे स्तर के पुरुषों से लेकर मनीषियों तक, सभी स्तर के लोग विद्यमान होते हैं। राज का प्रत्याशी सभी से अपने वरण करने की प्रार्थना करता है। इन लोगों में धींवर, रथ बनाने वाले बढ़ई इत्यादि कारीगर, लोहार आदि कर्मकर तथा तत्वचिन्तक मननशील पुरुष भी होते हैं। प्रत्याशी कहता है कि हे प्रजाओ ! तुम यह पर्णमणि रूप मतपत्र मुझे प्रदान करो जिससे कि मैं सभी मनुष्यों का निकटवर्ती हो जाऊं।[3]

चयन की दूसरी पद्धति वह है, जिसमें कुछ निश्चित लोग ही राजा का चयन करते हैं। इनमें से कुछ लोग इसी कारण से राजकृत कहे जाते हैं। कुछ मुखिया होते हैं, कुछ सूत शब्द से सम्बोधित किये जाते हैं।[4] ये भी गुप्त रूप से मत पत्रों द्वारा राजा का चयन करते हैं। यह पर्णमणि रूप मत पत्र संभवतः किसी लकड़ी के बने बड़े बक्स में गुप्त

1. अथर्व० 3.4.2
2. वही 4.8.4
3. वही 3.5.6
4. अथर्व० 3.5.7

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप से डाले जाते हैं।[1] ये राजकृत लोग राष्ट्र का अभिवर्ग कहलाते हैं और राजा की स्थिति इस अभिवर्ग में सर्वोत्तम होती है। राजपद का प्रत्येक प्रत्याशी इस अभिवर्ग का निकटवर्ती बनना चाहता है। इसलिए इस पर्णमणि को धन एवं बल का ही दाता कह दिया गया है।[2]

पर्णमणि का स्थान कहीं पर लकड़ी की बनी वरणमणि को भी प्राप्त है। इस वरणमणि को सम्पूर्ण दुःखों से दूर करने वाली तथा नानाविध ऐश्वर्य देने वाली ही कह दिया गया है। जैसे सूर्य तेजस्वी होकर अत्यधिक प्रकाशित हो रहा है इसी प्रकार यह वरणमणि मुझे कीर्ति एवं ऐश्वर्य प्रदान करे। प्रजापति परमेष्ठि के तुल्य यश को देने वाली यह वरणमणि मुझे भी तेज एवं यश प्रदान करे।[3] इस प्रकार की महत्वाकांक्षायुक्त प्रार्थनाएं तथा वरणमणि को धारण करके राष्ट्र, क्षात्र, पशु ओर ओज प्राप्ति की कामना। (अथर्व 10-3-12) इसका महत्व प्रदर्शित कर रही हैं। इसलिए यह पर्णमणि या वरणमणि सामान्य पत्ते या लकड़ी न होकर एक राजचिन्ह होता है। जैसा कि वर्तमान काल का मतपत्र एक सामान्य कागज मात्र न होकर राज चिन्ह युक्त एक महत्वपूर्ण अधिकार पत्र है। जिससे सारे राष्ट्र का भाग्य अभिलेख तैयार किया जाता है।

"तमु देवा अवीवरन्" अर्थात् देवगण उसका वरण करते हैं। (अथर्व 10-3-5) इन्द्र रूप राजा को देवों ने मिलकर उत्पन्न किया और राज्यशासन के लिए लगाया (अथर्व० 20-54-1) "विशि राजा प्रतिष्ठितः"—अर्थात् प्रजा में यह राजा प्रतिष्ठित हो गया है। (यजु० 20-9) "विशो न राजानं वृणाना" प्रजाएं राजा का वरण करती है। (ऋक् 10-124-8) इत्यादि विभिन्न संहिताओं के वाक्यांश समुचित रूप से राजा के चयन पर प्रकाश डालते हैं।

इस चयन का कारण यह है कि राजा प्रजा का प्रतिनिधि बनकर रहे तथा राजपद के प्रत्याशियों में जो सर्व श्रेष्ठ हो उसको चुना जा सके। "जिससे यह राष्ट्र इन्द्र के गुणों से युक्त राजा का चयन कर

---

1. अथर्व० 3.5.3
2. वही० 3.5.2
3. वही० 10.3.17.24

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सके वृत्र के तुल्य कोई दुष्ट उस राज्य का अधिपति न हो जाये।"[1]

राजा को वरण किये जाने के कारण वरुण भी कह दिया गया है। "यह व्रतधारी, सबके द्वारा वरण किया हुआ राजा, साम्राज्य को उत्तम मार्ग पर ले जाने के लिए सिंहासन पर बैठ गया है।[2] गोपथ ब्राह्मण में वरुण की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है कि वरण किये जाने के कारण ही उसे वरुण कहते हैं।[3]

यह चयन पद्धति उत्तर वैदिक काल में भी बहुत समय तक प्रचलित रही। रामायण में राम का राज्याभिषेक करने के लिए महाराज दशरथ को सम्पूर्ण प्रजा का प्रतिनिधित्व करने वाली सभा को आमंत्रित करना पड़ा। जब राजा दशरथ सभा भवन में विराजमान हो गये तब शेष लोक सम्मत राजाओं ने प्रवेश किया और वे 'नियतनृप' पदानुसार अपने-अपने आसनों पर बैठे।[4] "राजानो लोक सम्मताः" ही वैदिक काल में "राजकृतः राजानः" (अथर्व० 3.5.6)है। इसी प्रकार महाराज दशरथ की मृत्यु होन पर भी रात्रि व्यतीत होते ही सूर्योदय के साथ ही राजा के वरण हेतु सभी "राजकर्तारः" सभागृह में एकत्र हुए यहाँ भी "राजकर्तारः" तथा "राजानः राजकृत" शब्द ध्यान देने योग्य है।

ये "राजानः राजकृतः" या "राजानो लोकसम्मताः" वस्तुतः प्रतिनिधि सभा ही थी इसे ही स्पष्ट करते हुए अयोध्याकाण्ड 2.16.20 में कहा गया है "…ब्राह्मणा बलमुख्याश्च पौर जानपदैः सह। समेत्य ते मन्त्रयितुं समतागत बुद्धयः…।" अर्थात् ब्राह्मण(संभवतः मन्त्रीपरिषद्) सेना के प्रधान अधिकारी, नगर के प्रतिष्ठित जन, जनपदों के प्रतिनिधि इकट्ठे होकर मन्त्रणा करने के लिए, समान बुद्धि वाले होकर वृद्ध महाराज दशरथ से बोले। इन समागत पुरुषों में नगर निवासी तथा राष्ट्र के बाह्य भागों के निवासी भी हैं।(अयो० 2-50-51) यह स्पष्ट ही, अथर्व० 3.4.2 "राज्य के पांचों प्रकार के निवासी जो

1. अथर्व० 12.1.37
2. यजु० 10-27
3. तं वा एतं वरणं सन्तं वरूण इत्याचक्षते। "गोपथ। पूर्वगोपथ 1.6
4. …राजानो लोक सम्मताः। …निषेदुर्नियता नृपाः। अयोध्याकाण्ड 1.46-47.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभी दिशाओं में रहने वाले हैं तुम्हें राज्य के लिए वरण करें," का प्रतिबिम्ब है।

राजा का चयन दीर्घकाल के लिए लिए किया जाता है ऋषि कहता है कि चयन किये हुए राजन् "अचंचल होकर, ध्रुव के समान अटल होकर इस राज्य पर आरूढ़ हो राष्ट्र के उस उच्च पद से तू पतित मत हो और सभी प्रजाएं तेरी कामना करने वाली हों तू पर्वत के समान दृढ़ होकर राज्य कर।"[1] जैसे द्युलोक, पृथिवी, यह जगत् ये पर्वत स्थिर हैं इसी प्रकार इन प्रजाओं में हे राजन तू स्थिर हो।[2] यदि राजा ठीक प्रकार से कार्य करता रहे तो, वह आयुपर्यन्त राजा बना रह सकता है।[3]

चयन के बाद विधिवत् घोषणा की जाती है कि इस महान क्षत्रियत्व पर अधिकार के लिए, सर्वोच्च स्थान के लिए, जनराज्य के इन्द्ररूप पद के लिए देवों ने इस पुरुष को निर्विरोध या अद्वितीय रूप से चुना है। अमुक पुरुष और अमुक नारी के पुत्र को इस प्रजा के सौम्यगुणयुक्त राजा पद पर नियुक्त किया गयाहै। यह हम ब्राह्मणों(ब्राह्मण परिषद) का भी राजा हो गया है।[4] इसलिए हे प्रजाओं! यह राजा सबके द्वारा ही नमन करने योग्य है।[5]

सबसे श्रेष्ठ स्थान पर चुने जाने पर, अग्रगण्य होने पर भी वह जनता का प्रथम सेवक है। जनता की सेवा पर ही उसकी स्थिति निर्भर है, वह प्रजा की इच्छाओं के पीछे चलने वाला है।[6] प्रजा की इच्छा के विपरीत उसकी कोई इच्छा नहीं, प्रजा के सुख के अतिरिक्त राजा का अन्य कोई सुख नहीं। "वह जनता रूपी स्वामी,राजा रूपी सेवक को कर रूप वृत्ति प्रदान करती है। जो राजा प्रजा से प्राप्त करता है। जिसके

---

1. अथर्व० 6.87.1-2
2. वही० 6.88.1
3. वही० 10.3.12
4. यजु० 10.18
5. तस्मै विशः समनमन्तः। यजु० 17.24
6. स विशोऽनुव्यचलत्। अथर्व० 15.9.1

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण वह प्रजा का दास्य स्वीकार करता है।"[1] अथर्व 20.15.4 को व्याख्या में आचार्य सायण कहते हैं कि प्रजाएं राजा से जो कुछ कहती हैं राजा उसे स्वीकार करता है।

राजा को कभी भी स्वतंत्र नहीं रहने देना चाहिए। शतपथ ब्राह्मण का मत है कि "यदि राजा प्रजा से स्वतंत्र होगा तो वह प्रजा को नष्ट कर देगा। क्योंकि अप्रतिबन्धित राजा प्रजा का नाशक होता है। वह प्रजा को खाए जाता है। अतः किसी एक को राज्य में स्वतंत्र नहीं करना चाहिए जैसे मांसाहारी पशु किसी पुष्ट पशु को खा जाता है। उसी प्रकार स्वतंत्र राजा भी प्रजा को खा जाता है।'[2] बाल्मिकि रामायण में बालिवध के प्रसंग में "तदलं परितापेन शास्त्रत: परिकीर्तित:। वधो वानर शार्दूल न वयं स्व वशे स्थित:।" कहकर श्रीराम ने भी राजा को स्वेच्छाचारी होने से बचाया है। अत: राजा को जनता के प्रति प्रतिबद्ध होना ही चाहिए। वह जनता के प्रतिनिधि के रूप में सभा व समिति के प्रति वचनबद्ध होता है कि मैं राजा प्रत्येक क्षत्रिय, राज्य के प्रत्येक गाय, घोड़े, आदि प्रत्येक पशु प्रत्येक प्राण, प्रत्येक अंग तथा इस द्यु एवं पृथिवी की रक्षा के लिए सिंहासन पर बैठता हूं।[3] इसप्रकार राजा प्रजा के धन, संपत्ति प्राण तथा राष्ट्रभूमि एवं राष्ट्रीय सम्पत्ति की रक्षा के लिए वचनबद्ध होता है। वह कहता है कि मैं ब्रह्मशक्ति एवं क्षत्र शक्ति के मिलन स्थल इस पुण्यमय राष्ट्र के लिए व्रतपति अग्नि के सम्मुख व्रत और श्रद्धापूर्वक दीक्षित होता हूं।"[4]

अपने वचन का पालन न करने पर राजा को च्युत भी किया जा सकता है। विभिन्न राजनैतिक संस्थाएं इतनी सबल हैं कि वह राजा द्वारा प्रजा को शोषण से बचा सकती हैं। राज्य च्युति का प्रधान कारण बताते हुए आचार्य चाणक्य कहते हैं कि प्रजा का विद्रोह ही

---

1. स्वभाग भृत्या दास्यत्वे प्रजानां च नृप: कृत:। ब्रह्मणा स्वामिरूप-स्तु पालनार्थं हि सर्वदा। शुक्रनीति 1.188
2. शतपथ ब्राह्मण काण्ड 13, प्र० 2 ब्रा० 3, कं० 7-8
3. यजु० 20.10
4. यजु० 20.24-25

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सबसे बड़ा कोप है।[1] एक बार राज्य-च्युत होने पर पुनः राजा के पद पर चयन किया जा सकता है।[2]

अभिषेक :–

महाभारत में भीष्म युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए प्रसंगवश कहते हैं कि "राष्ट्र का यह सर्वप्रमुख कर्त्तव्य है कि वह राजा का अभिषेक करे।[3] ब्राह्मण ग्रन्थों में तो राज्याभिषेक का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। उन कृत्यों का मूल भी वैदिक संहिताएं हैं।

शतपथ ब्राह्मणकार राजसूय के प्रकरण में कहते हैं "राजा के लिए ही राजसूय है। राजा राजसूय यज्ञ करके ही बनता है। बाजपेय यज्ञ करने करने से सम्राट बनता है। राज्य तो हीन होता है उससे साम्राज्य श्रेष्ठ होता है।"[4]

सर्वप्रथम यज्ञ किया जाता है। यज्ञशाला में हविर्धान के सम्मुख तथा आहवनीयाग्नि के निकट राजसिंहासन रख दिया जावे। तब अध्वर्यु घोषणा करता है कि "आवित्तः" अर्थात् सूचित किया जाता है कि यह राजा राजसूय यज्ञ कर रहा है। इस प्रकार चारों वर्णो की स्वीकृति के अनन्तर ही राजा का अभिषेक प्रारम्भ होता है।[5] उपरोक्त कथन एक प्रकार से अथर्ववेद के मन्त्रों का अनुवाद मात्र है। अथर्ववेद में अथर्वांगिरा ऋषि घोषणा करते हैं कि यह सम्पूर्ण पदार्थों की वृद्धि करने वाला, भूतों का अधिपति होकर यह राजा बना है। यह राजा राज्य की प्राप्ति के लिए राजसूय यज्ञ प्रारम्भ करने जा रहा है, आप सब इसको अनुमति दो।

राजसूय यज्ञ करके वह यथायोग्य दक्षिणादि प्रदान करता है। तदुपरान्त राजसिंहासन पर आसन बिछाकर अध्वर्यु इस प्रकार घोषणा करे "हे राजन्! यह राज्य तुम्हारे लिए है। तुम सबको संयमित करने

1. प्रकृति कोपो हि सर्वकोपेभ्यो गरीयान्। कौ० अ०
2. सातवलेकर–अथर्व० 3.3 में
3. राष्ट्रस्यैतत्कृत्यतमं राज्ञ एवाभिषेचनम्। शान्ति पर्व 67.2
4. शतपथ ब्राह्मण 5.1.1.12, 5.2.1.13
5. शतपथ5.3.5.32-34

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले हो अतः प्रजा को संयम में करो तू ध्रुव की भाँति धर्म पर दृढ़ है, तू शासन को धारण करने में समर्थ है। अपने इस कथन से अध्वर्यु उस पुरुष को ध्रुव एवं धरुण(राज्यधारक)करता हैं। तुझे कृषि के लिए, प्रजा के कल्याण के लिए, धन-धान्य के लिए,प्रजा के पालन के लिए, सज्जनों की वृद्धि के लिए राजा बनाते हैं।[1]

अभिषेक के लिए नदियों, झीलों, कुओं, समुद्र तथा वर्षा का जल लाया जाता है।[2] अथर्दवेद में कहा गया है कि जो दिव्य जल आकाश से बरसते हैं या पृथ्वी पर उपलब्ध हाते हैं उन सब जलों के वर्चस्व से मैं तुझे अभिसिंचित करता हूं। उन दिव्य जलों के वर्चस्व से हम तुझे इसलिए सिंचित करते हैं कि जिससे तू मित्रवर्धन हो जावे।[3]

जल द्वारा अभिषेक के बाद माधुर्य, बल और स्नेह के प्रतीक मधु, दुग्ध और घृत, से अभिषिक्त करते हैं।[4] तदुपरान्त राजा कहता है कि हे जलों! मुझे राष्ट्र प्रदान करो जिससे कि मैं जन का भरण पोषण करने वाला बन सकूं (शतपथ 5.3.4.19) इस विधि के बाद राजा देवपूजा करके शार्दूल चर्म पर बैठता है।[5] अथर्ववेद में भी सिंहासन पर आरूढ़ होते समय वह व्याघ्र तुल्य पराक्रमी राजा व्याघ्र चर्म पर बैठता है। तब पुनः उसका अभिषेक होता है (अथर्व 4.8.4)। शतपथ के अनु-

1. "इयं ते राडिति राज्यमेवास्मिन्नेतद्दधात्यथैनमासादयति यन्तासि यमन इति यन्तारमेवैनमेतद्यमनमासां प्रजानां करोति ध्रुवोऽसि धरुण इति ध्रुवमेवैनमेतद्धरुणमस्मिंल्लोके करोति कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वेति साधवेत्वेत्ये वै तदाह। शत० 5.2.1.25
2. स सारस्वतीरेव प्रथमागृह्णाति (शत० 5.3.4.3) अथ यः स्यन्दमानानां स्थावरो हृदो भवति (शत० 5.3.4.12) अथ या आतपन्ति वर्षन्ति ता गृह्णाति(5.3.4.13)अथकूप्या गृह्णाति(5.3.4.15)
3. अथर्व० 4.8.5-6
4. अथमधुगृह्णाति (5.3.4.17) अथ पयो गृह्णाति, अथ घृतं गृह्णाति। (शत० 5.3.4.19-20)
5. अग्रेण मैत्रावरुणस्य घिष्ण्यम्। शार्दूलचर्मोपस्तृणाति...शार्दूलत्विषिमेवास्मिन् एतद्धताति (शतपथ 5.3.5.3)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सार भी व्याघ्र चर्म पर बैठने के बाद सब वर्णों के प्रतिनिधि तथा स्वजन राजा का अभिषेक करते हैं।[1]

इस अभिषेक के बाद उसे चौकीं पर बिठाते हैं यह उदुम्बर (गूलर) की लकड़ी को बनी होती है।[2] इस आसन्दी को ही सिंहासन के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। जैसाकि यजुर्वेद 19.16 में कहा गया है कि "आसन्दी रूपम् राजासन्द्यै:"। अर्थात् सुन्दर रूप वाली, राजाओं के बैठने योग्य सुखदायक आसन। स्वामी दयानन्द जी ने उक्त मंत्र भाष्य में इसकी व्युत्पत्ति भी दी है।[3]

इस महाभिषेक पर राजा को शपथ एवं श्रद्धापूर्वक यह प्रतिज्ञा लेनी पड़ती है कि जिस रात्रि से मेरा जन्म हुआ है अर्थात् जब से मैं राजा बना हूं, तब से मृत्युपर्यंत, यदि मैं जनता के प्रति द्रोह करूं, तो मेरा सारा पुण्य एवं इष्ट तथा आपूर्त कर्म, मेरी आयु सभी समाप्त हो जावें। जब भी यदि कोई यह इच्छा करे कि यह क्षत्रिय, इस सम्पूर्ण भूमि को जीत लेवे, सभी लोकों को प्राप्त कर लेवे, यह सभी राजाओं से श्रेष्ठ बने, चाहे वह साम्राज्य, भौज्य, वैराज्य, पारमेष्ट्य राज्य, महाराज्य को प्राप्त करे। सार्वभौम, समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का एकमात्र राजा हो, तो उस क्षत्रिय को महाभिषेक के समय इस शपथ के साथ ही अभिषिक्त करे।[4]

अभिषेक क्रिया के बाद यजुर्वेद (10.17-18) से उसको मुकुट धारण कराया जाता है।[5] तदुपरान्त सिंहासन पर बैठने पर राजा की पीठ पर धीरे से दण्ड से चोट करते हैं। इसप्रकार दण्ड से मारकर दण्ड-के अन्तर्गत करते हैं अर्थात् राजा भी दण्डनीय है क्योंकि इसे दण्ड बध

1. तेन ब्राह्मणो अभिषिंचति तेन स्वो अभिषिंचति…तेन मित्र्यो राजन्यो ऽभिषिंचति तेन वैश्योऽभिषिंचति। शत० 5.3.5.11-14
2. अथास्माऽआसन्दीमारोहति…औदुम्बरी भवति…। शतपथ 5.2.1.22
3. आ समन्तात् सन्यते सेव्यते या सा। राजानः सीदन्ति यस्यां तस्यै। (यजु० 19.16) में स्वा० दया०
4. ऐतरेय ब्रा० 8.15
5. शतपथ 5.4.4.2

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अंदर पहुंचाते हैं ![1] यदि राजा अपराध करता है,अपने व्रतों का पालन नहीं करता है तो वह राजा भी दण्डनीय होता है।

उपरोक्त क्रिया के होने पर सम्पूर्ण जन की भक्ति उसे प्राप्त होती थी जिससे क्षीण बल होते हुए भी वह राजा मानो वज्र की शक्ति से युक्त हो जाता है। "राजसूय यज्ञ करने के बाद जो अभिषिक्त हो चुका है वह महान हो जाता है। पृथ्वी उससे भय मानती है। पर वह भी पृथ्वी से डरता है कि कहीं वह उसे च्युत न कर दे अत: वह उससे मैत्री रखता है तथा अपना सम्वन्ध माता एवं पुत्र का रखता है।[2]

राजा के अभिषेक के उपरान्त उसे नवीन वस्त्र भी ओढ़ाया जाता है तथा यह आशा की जाती है कि यह राजा चिरकाल तक उत्तम ढंग से राज्य कर सके।[3] तब सभी उपस्थित प्रजाएं उसको नमन करती हैं।[4]

चक्रवर्तित्व :-

प्रत्येक राजा को यह कामना रहती है तथा राजा का आदर्श होता है कि वह चक्रवर्ती सम्राट् बने। चक्रवर्ती राज्य के अन्तर्गत समुद्रपर्यन्त भूमि आ जाती है। उस सम्पूर्ण दिशाओं में फैले हुए शासन के एकमात्र शासक की सर्वोच्च उपाधि सम्राट् है। इसीकी अद्वितीय भावाभिव्यक्ति ऐतरेय एकराट् शब्द से करता है।[5] ऋग्वेद में भी इन्द्र रूप राजा के

---

1. एनं पृष्ठतस्तूष्णीमेवदण्डैर्घ्नन्ति। त दण्डैर्घ्नन्तो दण्डवधमतिन-यन्ति तस्माद्राजा दण्ड्यौ यदेनं दण्डवधमतिनयन्ति।
शतपथ 5.4.4.7
2. वरुण स वो वा ऽएषयद्राजसूयम्। पृथिव्यु हनैस्माद्बिभेति महद्वा-ऽयमभूद्योऽभ्यषैचि यद्वैमायं वावद्रणीयादित्येष उ हास्यै विभेति यद्वै मेयं नावधून्वीतेति तदनयैवैतन्मित्रधेयंकुरुते न हि माता पुत्रं हिनस्ति न पुत्रो मातरम्।। पृथिवी मातर्माहिंसीमऽहिं त्वाम् इति। शतपथ 5.4.3.20-21
3. अथर्व० 19.24.4-6
4. नमस्यो भवेह। अथर्व० 3.4.1
5. सार्वभौमः सर्वायुषआन्तादापरार्धात् पृथिव्यै समुद्र पर्यन्ताया एक-राट्। ऐतरेय 8.18

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए कहा गया है कि "तुम इस भुवन के एकराट् होकर अपनी शक्तियों के साथ विराजमान हो ।[1]

सम्पूर्ण दिशाओं में फैली हुई विस्तीर्ण पृथिवी जिसका आदेश स्वीकार करती है, जिसका कोई भी प्रतिरोध नहीं कर सकता, ऐसा अजेय होकर जो परमैश्वर्यवान्, प्रजारंजन में लगा रहने वाला.दीप्तिमान् पुरुष है[2] वही वलशाली चक्रवर्ती के पद को सुशोभित करता है ।

यजु० 8.37 की व्याख्या करते हुए ऋषि दयानन्द कहते हैं कि "प्रजा के दो राजा होने चाहिए ! एक तो चक्रवर्ती सम्राट दूसरा माण्डलिक राजा । ये दोनों ही राजा अपनी अपनी सभाओं से युक्त हों, ये दोनों ही न्याय और विनयपूर्वक प्रजा की रक्षा करें और प्रजा से कर ग्रहण करें । सभी व्यवहारों से विद्या की वृद्धि एवं सत्य की स्थापना का प्रयास करें । इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम सम्बन्धी कार्यों से प्रजा को सन्तुष्ट करके स्वयं भी सन्तोष एवं आनन्द का अनुभव करें ।[3]

उपर्युक्त उद्धरण से चक्रवर्ती के आधीन अनेक छोटे-छोटे राजाओं की सत्ता सूचित होती है । राजाओं के भी राजा चक्रवर्ती सम्राट के लिए अधिराज शब्द का प्रयोग संहिताओं में प्राप्त होता है ।[4] यह अधि-

---

1. एक राडस्य भुवनस्य राजसि शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः । ऋग्वेद 8.37.3
2. प्राच्यादिशस्त्वमिन्द्रासि राजोतोदीच्या दिशो वृत्रहन्छत्रुहोऽसि ।
यत्र यन्ति स्रोत्यास्तज्जितं ते दक्षिणतो वृषभ एषि हव्यः ॥
अथर्व० 6.98.3
3. प्रजायाँ द्वौ ससभौ राजानौ भवितुं योग्यौ, एकश्चक्रवर्ती द्वितीयो माण्डलिकश्चैतौ श्रेष्ठन्याय विनयादिभ्यां प्रजां संरक्ष्य पुनस्ताभ्यः करं संग्रहीयाताम् । सर्वस्मिन् व्यवहारे विद्यावृद्धि सत्यवचनं चाचरेताम् । त एवं धर्मार्थ कामैः प्रजाः संतोष्य स्वयं संतुष्टौ स्याताम् । आपत्काले राजा प्रजाँ प्रजा च राजानं संरक्ष्य परस्परमानन्देताम् । यजु० 8.37 में ऋषि दयानन्द ।
4. ···अधिराजो राजसु राजयातै । अथर्व० 6.98.1 । त्वमिन्द्राधिराजः वही 6.98.2

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज प्रजा ही नहीं अपितु माण्डलिक राजाओं का भी राजा होता है।[1] अथर्व 4.22.2 में प्रयुक्त राजेन्द्र शब्द उसको स्पष्ट कर रहा है।

आवश्यकता होने पर वह चक्रवर्ती छोटे राजाओं को विचार-विमर्श या युद्ध में सहायक होने या अन्य कार्यों के लिए बुलाता है तथा कार्यसिद्धि के उपरान्त उन्हें अपने राज्य, अपने कार्यक्षेत्रों में भेज देता है।[2]

चक्रवर्ती सम्राटों के साथ राजाओं का सदा मैत्री भाव बना रहना चाहिए। अथर्ववेद में "सं राजानो अगुः...."[3] इन शब्दों से बहुत से राजाओं के एकत्र होने की सूचना मिलती है और राजाओं के एकत्र होने से उनके ऊपर सम्राट् की सत्ता भी सूचित होती है।

सम्राट प्रायः छोटे राजाओं का वध न करके उनसे पराजय स्वीकार करा लेते हैं। अतः सम्राट को राजपितर विशेषण से अलंकृत किया गया है।[4] ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक चक्रवर्ती सम्राटों के नाम भी प्राप्त होते हैं।

राजा के कार्य :–

अनेक राज्य पद्धतियाँ भौज्य, वैराज्य आदि हमें वैदिक साहित्य में प्राप्त होती हैं। परन्तु उनकी कार्य पद्धतियों का विशेष विवरण सूत्र रूप में ही मिलता है। फिर भी राजा का महत्व एवं कार्य इत्यादि लगभग सभी में, थोड़े बहुत भेद के साथ एक से ही हैं।

सभी पद्धतियों में राजा का स्थान सर्वोच्च होता है। सभी उसके आदेश पालन के लिए उद्यत रहते हैं। राष्ट्र की सम्पूर्ण सम्पत्ति पर उसका अधिकार स्वीकार किया गया है। उस राष्ट्रीय सम्पत्ति को प्रजा के अधिकाधिक हित में प्रयोग करना उसका कर्त्तव्य है। वेद का ऋषि घोषणा करता है "हे राजन्! ये सम्पूर्ण गाय, घोड़े, ये ग्राम और

5. एक वृषं जनानामुत राज्ञाम्··· । अथर्व॰ 4.22.5
1. तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वम् मित्रा देवजना यूयम्। इमं संग्रामं संजित्य यथा लोकं वितिष्ठध्वम्॥ अथर्व॰ 11 9.26
2. अथर्व॰ 19.57.2
3. राजानं राजपितरं परमेष्ठिनम्··· । ऐतरेय 8.12

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रथ इत्यादि सम्पूर्ण वस्तुएं तथा सारी ही दिशाएं और उनमें रहने वाली प्रजा आदेश को स्वीकार करती है।"[1] दुर्बल वैश्य शक्तिशाली क्षत्रिय तथा ब्राह्मणों को भी समान रूप से प्रेरणा प्रदान करता है[2], जिससे वे एक साथ मिलकर राष्ट्र के गुरुतर भार को वहन करने वाले बन सकें।

धन-सम्पत्ति को आधार बनाकर सामान्य मनुष्यों में नाना प्रकार के ईर्ष्या-द्वेष जन्म ले लेते हैं और समाज इन दोषों से पीड़ित होकर दु:खों को प्राप्त होता है। जब कहीं बहुत धन एकत्र हो जाता है तथा कहीं उसकी अत्यन्त न्यूनता हो जाती है तो सामाजिक भेदभाव व वैमनस्य बढ़ता है। उसे दूर करने के लिए सबसे अधिक श्रेष्ठ उपाय है—धनपति दान इत्यादि के माध्यम से समाज में ऐसी स्थिति उत्पन्न न होने दें। परन्तु यदि ऐसा नहीं होता तो राजा को चाहिए कि वह सभी मनुष्यों में ऐसी कर्त्तव्य बुद्धि पैदा करे, जैसे पिता अपने पुत्रों में कर्त्तव्य एवं उदाहरण को उत्पन्न करता है[3], जिससे भाई-भाई परस्पर न लड़ें। यदि तब भी कार्य सिद्धि न हो तो दुष्टों को दण्ड देकर अन्न इत्यादि जीवनीय पदार्थों को वितरित करें।[4] इस प्रकार प्रजा को सन्तुष्ट एवं प्रसन्न करे तथा सभी में धनधान्य का समान वितरण कर दे[5] और राष्ट्रों को खाद्यान्नों से सदा भरपूर रखे।[6]

धन के वितरण के लिए धन की प्राप्ति के स्रोतों का विस्तार आवश्यक है। अतः समाज की समृद्धि को दृष्टिगत करके वाणिज्य इत्यादि के प्रति राजा को उदार बुद्धि होना चाहिए और वाणिज्य की

---

1. यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामाः यस्य विश्वे रथासः। अथर्व० 20.34.7
2. अथर्व० 20.34.6
3. इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा। अथर्व० 20.79.1
4. अथर्व० 20.20.3
5. अथा मनो वसुदेयाय कृणुष्व ततो न उग्रे विभजा वसूनि। अथर्व० 3.4.4
6. राष्ट्रमनकुपयसाघृतेन। अथर्व० 13.1.8 ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृद्धि के लिए वैश्य वर्ग को प्रोत्साहन देकर स्वयं भी सतत जागरूक रहना चाहिए।

प्रजा से कर रूप में प्राप्त धन से जनकोश बनता है। उसका उपयोग सदा उत्तम कार्यों में ही होना चाहिए। उसे कभी भी दुष्कर्मों में व्यय न करे[1] तथा स्वयं को उस धन का मात्र रक्षक समझे। कोश को तो राष्ट्र, ही कह दिया गया है।[2] जैसे राष्ट्र की रक्षा की जाती है उसी प्रकार राष्ट्रीय कोश एवं शोभा की रक्षा करनी चाहिए।

राष्ट्र में सदैव सत्य एवं पवित्र व्यवहारों की वृद्धि हो तथा असत्य एवं पापमय कृत्यों को हतोत्साहित करते रहना चाहिए। अथर्ववेद का ऋषि आदेश देता है कि "राष्ट्रस्करः सूनृतावत्"। अथर्व० 13.1.20। अर्थात् राष्ट्र में सत्य एवं मधुर व्यवहार सदा वृद्धि को प्राप्त हो। सत्य की तो राष्ट्रधारक तत्वों मे गणना की गई है।[3] अतः राष्ट्र में कहीं असत्यमय व्यवहार नहीं होना चाहिए, चाहे वह मनोरंजन का साधन भूत जुआ ही क्यों न हो। हम चाहे विचारमय समाजों में हों, या लोभ वश धन की कामना करते हों, तब भी कभी असत्य व्यवहार न करें।

सत्य या मधुर व्यवहार के लिए हृदय का पवित्र होना, मन का कल्याणमय भावों से भरा होना आवश्यक है। राजा को चाहिए कि वह प्रजा को श्रेष्ठ मन वाला बनावे।[4] इस प्रकार प्रजाओं का कल्याण करने वाला बन कर ही राजा को सन्तुष्ट होकर सिंहासन पर बैठना चाहिए।[5] तभी वह उन्नति के सम्पूर्ण मार्गों को निष्कंटक बना सकता है। प्रजा की सर्वाङ्गीण उन्नति से, राष्ट्र के पूर्ण विकास से ही राजा का राजत्व सिद्ध होता है। इसलिए राजा को उसकी उदाराशयता को दीप्त करने के लिए उसे प्रजापति ही कह दिया गया है और उस प्रजापति से सुख व शान्ति की प्रार्थना की गई है।[6] प्रजा की प्रार्थना को सुनना

1. सत्याय च तपसे देवताभ्यो निधिं शेवधिं–अथर्व० 12.3.46
2. श्री वै राष्ट्रम्–शतपथ 6.73.7
3. अथर्व० 12.1.1
4. विशः संमनस्करत्–अथर्व० 7.94.1
5. अथर्व० 19.19.11
6. इमा जुषस्व नो गिरः। अथर्व० 20.6.8

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उनके कष्टों को दूर करना चाहिए। तभी राजा के प्रजापति स्वरूप का प्रजापतित्व स्थिर रह सकता है।

राष्ट्र के शत्रुओं को दबाकर मित्रों की संख्या और उनके मैत्रीभाव को दृढ़ करना चाहिए। इस प्रकार के इष्टमित्रों को सहायता देकर तथा आवश्यकता होने पर उनसे सहायता प्राप्त करनी चाहिए। मित्र के पर्याय सखा शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है कि "न स सखा वो न ददाति सख्ये। ऋ० 10.117.4।" वह मित्र नहीं हैं, जो आवश्यकता पड़ने पर सहायता नहीं करता है। अतः राजा को सदा ऐसे प्रयास करने चाहिए जिससे वह मित्रवर्धन हो सके।[1]

सज्जनों एवं मित्रों की सहायता तथा दुष्टों के दमन के विना राजकार्य नहीं चलता। इसीलिए राजा के वीर होने की कामना की गई है। उसके "अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा"[2] इत्यादि विशेषण उसे सार्थक करते हैं। वह शत्रुओं के नगरों को छिन्न-भिन्न कर देता है। आचार्य सायण "पुरं समिदंहस्यौजसा" की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जो पुर या किलों में रहने वाले सैनिकों को अपने सैनिकों की सहायता से नष्ट कर देता है।[3] इसी प्रकार अथर्व 20.21.8 में भी शत्रु के वीर योद्धाओं द्वारा रक्षित सौ पुरों को तोड़ डालने का विवरण प्राप्त होता है। वही राजा श्रेय को प्राप्त करता है, जो घमण्डी शत्रु के दर्प को नष्ट कर दे।[4]

शत्रु को नष्ट करने के लिए तथा राष्ट्र को निष्कंटक बनाने के लिए "उपक्षत्रं पृथ्वीत। ऋक्० 1.40.8।" अर्थात् अपनी सेना को अच्छी प्रकार व्यवस्थित करना आवश्यक है तथा शत्रुमर्दन से पूर्व सम्पूर्ण राष्ट्र को वीर भावों से भर कर युद्ध यज्ञ में आहुति देने के लिए तत्पर बना लेना चाहिए। इसके लिए राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को युद्ध

1. यथासो मित्रवर्धन। अथर्व० 5.8.6। 19.32.6
2. अथर्व० 4.32.3
3. अथर्व० 20.20.3
4. सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वा-त्यतिष्ठद् दशांगुलम्। अथर्व० 19.6.1

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कौशल में निपुण कर देना चाहिए।

राजा को चाहिए कि वह शत्रु व मित्र के भावों को जानने के लिए तथा प्रजा को अपने अनुकूल बनाये रखने तथा उनकी इच्छा को जानने के लिए श्रेष्ठ गुप्तचर रखे। आचार्य चाणक्य का कथन है कि "दूरस्थमपि चारचक्षुः पश्यति राजा।" (चाणक्य सूत्र 471) अर्थात् गुप्तचर रखने वाला राजा एक स्थान में बैठकर दूर स्थित घटनाओं को भी देख लेता है। उक्त पृष्ठभूमि में जब हम अथर्व 10.6.1 मन्त्र को देखते हैं तो यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि वह राजा दो हाथ, पैर, नेत्रों वाला होते हुए भी चरों के द्वारा सम्पूर्ण पृथ्वी को व्याप्त कर लेता है। इस कथन की सम्पुष्टि करते हुए अथर्ववेद कहता है "इस राजा के गुप्तचर द्युलोक में भी विचरण करने वाले होकर हजारों आँखों से इस भूमि पर होने वाले प्रत्येक कार्य को निरन्तर देखते रहते हैं।[1]

गुप्तचर इस प्रकार के होने चाहिए जो जरा भी क्लेश का अनुभव किये बिना निरन्तर कार्यशील बने रह सकें। वेद तो उन्हें कहता है कि जो एक स्थान पर स्थिर होकर न रहे, अर्थात् एक कार्य के बाद इस प्रकार गतिशील बने रहें तथा प्रमाद जिन्हें छू न सके।[2] यदि कोई व्यक्ति कहीं किसी कारण से ठहरता है, कहीं संदेहास्पद रूप से विचरण करता है, जो किसी को ठगता है, जो अकेले में छिपकर घूमता है या कोई दो व्यक्ति मिलकर कोई गुप्त मंत्रणा करते हैं उन सबका ज्ञान उस वरणीय राजा को होना ही चाहिए।[1]

आचार्य चाणक्य ने अर्थशास्त्र के प्रथम अधिकरण के ग्यारहवें तथा बारहवें अध्याय में कार्पटिक, उदास्थित, गृहपति, वैदेहक्, तापस, सत्री, तीक्ष्ण, रसद तथा भिक्षुकी इत्यादि अनेक प्रकार के गुप्तचरों की चर्चा की है। अतः राजा को गुप्तचर अवश्य ही रखने चाहिएं।

---

1. दिव स्पशः प्र चरन्ती दमस्य सहस्रधा अति पश्यन्ति भूमिम्॥ अथर्व–4-16-4।
2. न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति॥ अथर्व० 18-1-9॥
1. यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतंकम्। द्वौ संनिषद्य यन्मंत्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः। अथर्व० 4-16-2

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विना गुप्तचरों के तो राजा नेत्रहीन होता है। इसलिए राजा को चार चक्षु कहा जाता है।

भारतीय परम्परा में पला प्रत्येक शक्तिशाली राजा अपने जीवन में अश्वमेध करने का स्वप्न देखता है। यह अश्वमेध चक्रवर्ती सम्राट होने के लिए आवश्यक है। वस्तुतः यह अश्वमेध राष्ट्र की वृद्धि का ही अन्य नाम है। शथपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि "राष्ट्रं वा अश्वमेधः, राष्ट्र की वृद्धि एवं समुचित पालन ही अश्वमेध है। यह राष्ट्र का पालन ही अश्वमेध यज्ञ का फल देने वाला है। इस राष्ट्र का रक्षक होने के कारण तथा राष्ट्र में महत्वपूर्ण होने के कारण क्षत्र शक्ति को ही राष्ट्र कह दिया गया है।[1] इसी प्रकार प्रजा का महत्व देखते हुए प्रजा का ही राष्ट्र कह दिया गया है।[2] इस राष्ट्र की वृद्धि ही राष्ट्रमेध है और यह राष्ट्रमेध हो अश्वमेध है। इस अश्वमेध के लिए राजा को सदैव सौम्य गुण युक्त, ज्ञानवान्, पुरोहित के मार्ग-निर्देशन में कार्य करना चाहिए।[3]

सभा व समिति :–

वैदिक काल में समाज पर्याप्त सजग एवं प्रगतिशील था। संहिता ग्रन्थों के अध्ययन से राजनैतिक विकास एव जनतत्र को आधार भूमि, सभा व समिति के उल्लेख से राजनैतिक जागरण का दिग्दर्शन होता है। वैदिक युग का राजपद निरकुश नहीं है। वह सभा व समिति से नियंत्रित होता है।

राजनैतिक जागृति की प्रतीक ये सभा व समिति इतनी महत्व-पूर्ण एवं लोकप्रिय हैं कि इनके विना राजनीति की चर्चा हो पूर्ण नहीं होती। सम्पूर्ण संहिता साहित्य में हमें अनेक प्रकार के समाजों का विवरण प्राप्त होता है। उन पर विचार करना सर्वथा अनुकूल है। अथर्ववेद में सभा के प्रारम्भ को बताते हुए कहा गया है कि राजा की प्रारम्भिक अवस्था में ही उस पूर्वकाल में सात तपस्वी एवं ज्ञानवान्

1. क्षत्रम् हि राष्ट्रम्। ऐतरेय 7-22
2. राष्ट्राणि वै विशः। ऐतरेय 8-26
3. अथर्व–67-3

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋषियों ने अपनी भावाभिव्यक्ति से इस सभा को प्रारंभ किया ।[1]

सभा के इन अनेक रूपों में एक है दशावरा । मनुस्मृति में इसका वर्णन किया गया है ।[2] इस दशावरा में सात विभिन्न विषयों के धार्मिक एवं सदाचारी विद्वान् तथा तीन पूर्व के तीन आश्रमों के प्रतिनिधि होते हैं । पूर्वोक्त मंत्र के सात ऋषि संभवतः यही सात विद्वान् रहे हैं । ऋषि दयानन्द लिखते हैं कि "इस सभा में वेद, न्यायशास्त्र, धर्मशास्त्र, निरुक्त आदि के वेत्ता विद्वान् सभासद् हों । सभा ... दस विद्वानों से न्यून सभासद् न होने चाहिएं ।[3]

महर्षि याज्ञवल्क्य का विचार है कि धर्म के ठीक स्वरूप को जानने व समझने समझाने के लिए एक परिषद् होनी चाहिए, जिसके सभासद् चारों वेदों के विद्वान् हों और जो कुछ वे कहें, वह धर्म के रूप में स्वीकार किया जाये ।[4]

प्रो० अल्तेकर के अनुसार "वैदिक साहित्य में वेदथ, सभा व समिति तीन प्रकार की संस्थाओं का वर्णन है ।"[5] यह वेदथ भी उपर्युक्त परिषद् जैसी ही प्रतीत होती है ।

सभा का स्पष्टीकरण करते हुए महाभारत में भगवान् वेदव्यास का कथन है कि "न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः, न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् । नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्यं यच्छलनानुविद्धम् । अर्थात् वह सभा नहीं है जहाँ वृद्ध अर्थात् परिपक्व मति वाले लोग न हों । और वे वृद्ध नहीं हैं जो धर्म की बात न कहें । वह धर्म नहीं हैं जो सत्य पर आधारित नहीं है तथा वह सत्य भी नहीं है जो पाप या मिथ्याचार से संयुक्त हो ।

---

1. देवा वा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्त ऋषयस्तपसा ये निषेदुः ।
   अथर्व० 5.17.6
2. मनुस्मृति–अध्याय 92
3. सत्यार्थप्रकाश–समुल्लास 6
4. चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत् त्रैविद्यमेव वा । सा ब्रूते यं स धर्मः स्यात्
   याज्ञवल्क्यस्मृति 1.9
5. अल्तेकर–स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन एंशेंट इण्डिया । पृ० 102

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोतम एक ब्राह्मण परिषद् की चर्चा करते हैं, जिसमें अनेक वेदज्ञ सभासद् होते हैं।[1] मनु महाराज राजा को विभिन्न परिषदों की चर्चा करते हैं। साधारण सभा[2], न्याय सभा[3], ब्रह्मसभा[4], मन्त्री सभा[5] इत्यादि। उनमें से ब्रह्मसभा वही है, जिसे साहित्य में ब्रह्मोथ भी कहा गया है। जहाँ ज्ञान और ईश्वर-चर्चा तथा वेद संबन्धी शास्त्र चर्चा चल रही हो, ऐसी सभा को ब्रह्मोथ कहा जाता है। प्राचीन जनश्रुति भी है कि ब्रहोथा सा यस्यामुच्यते ब्रह्म शाश्वतम्। ब्रह्माण वेदेन ब्रह्मणि परमात्मनि वा वेदितव्या सा ब्रह्मोथा। चतुर्वेद भाष्यकार श्री जयदेव विद्यालंकार ऋग्वेद[6] के आधार पर सभा के दो रूप स्वीकार करते हैं। उनमें से एक नाना रूपों में विभाजित होकर कृषि इत्यादि की वृद्धि तथा दूसरी अत्यक्ष शत्रुओं को दण्डित करती है। इस प्रकार वे सभा के दो रूप कार्यपालिका एवं न्यायपालिका स्वीकार करते हैं।

श्री जयदेव जो एक अन्य सभा "राका"[7] की सभा भी स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि यह अन्तरंग गुप्तसभा का नाम है।

वात्स्यायन का कथन है कि जो सभा लोक में ईर्ष्या द्वेष का कारण बनती है, अथवा जिस सभा में स्वच्छन्द विचार होता है, अथवा जहाँ पर हिंसात्मक जाल रचे जाते हैं, ऐसी सभा से बुद्धिमान् व्यक्ति सदैव दूर रहे। या गोष्ठी लोक विद्विष्टा या च स्वैरविसर्पिणी। परहिंसात्मिका या च न तामवतरेत् बुधः।"

वात्स्यायन की सम्पुष्टि करते हुए अथर्ववेद में कहा गया है कि वह दुष्ट अयज्ञशील व्रतों की सभा को नष्ट कर देता है।[8] अर्थात् राजा का

1. गौतम सूत्र। अध्याय 8.4.7
2. मनुस्मृति। 7.145-146
3. वही 8.1.2
4. वही 8.8.11
5. वही 7.54-57
6. कृष्टिरन्यो धारयति प्रविक्ता वृत्राण्यन्यो अप्रतीनि हन्ति। ऋक्० 7.85.3
7. अथर्व० 7.48.1
8. असुन्वामिन्द्र संसदं विषूचिं व्यनाशयः। अथर्व० 20.29.5

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह कर्तव्य है कि यदि राज्य में दुष्ट पुरुषों का संगठन बने या पणि अथवा समाज से द्रोह रखने वाले, राष्ट्र के प्रति किसी प्रकार का द्वेष-भाव रखकर कोई षड्यन्त्र करते हैं, तो उनकी उस सभा को नष्ट कर देवे।

राजा का यह भी कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्र-कल्याण करने वाली राष्ट्रीय सभा का आदर करे। भार्गव ऋषि कहते हैं कि "सामान्य पुरुषों से अविज्ञेय गूढ़ वाणी को बोलती हुई, सबको हर्षित करती हुई यह देवों की राष्ट्रीय सभा विराजती है, जो राष्ट्र के लिये सभी ओर से भोग्य पदार्थों का दोहन करती है। ऐसा कौन पुरुष है जो इसके बल एवं बुद्धि शक्ति की सीमा तक पहुंच सकता है। अर्थात् एक पुरुष का बल व बुद्धि सभा में बैठे अनेक विद्वानों की अपेक्षा न्यून ही होती है।[1] इस प्रकार की राष्ट्रीय स्तर की सीमा का आकार एवं उसके प्रति नमन का भाव सभी को धारण करना चाहिए।

जो सभा को स्वीकार नहीं करते हैं, इसका आदेश पालन नहीं करते हैं वे नष्ट हो जाते हैं। सभा कहती है—मेरे प्रति श्रद्धा का भाव भाव धारण करने वाले तुम्हारे लिए मैं इस कल्याणी वाणी का उपदेश करती हूं। जो दुष्ट पुरुष ब्रह्मज्ञ विद्वानों का अपमान करने की दृष्टि से उनके कथन का विरोध करते हैं, उन देव देवियों का तो समिति भी कोई कल्याण नहीं कर सकती, न ही उनके मित्र ही उनको वश में रख सकते हैं।[3] वे तो अपने विनाश को स्वयं ही आमंत्रित करते हैं।

अपने योगक्षेम की कामना करने वाले प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह इस सभा के प्रति तथा इस सभा के अध्यक्ष रूप राजा के लिए नम्रता प्रदर्शित करे।[4] इस सम्पूर्ण गण राष्ट्र के प्रति तथा इसके अधि-

---

1. यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
   चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम॥
   ऋग्वेद 8.100.10
2. अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि।
   अथर्व० 4.30.4
3. नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम्। अथर्व० 5.19.15
4. नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो नमः। यजु० 16.24

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पति गणनायक को नमन करें। [1]

इस सभा के अनुकूल कार्य करने वाले तथा इसके प्रति आदर भाव रखने वाले सदा ही धन, बल से युक्त होते हैं। वेद का ऋषि मानों उस सभा का प्रतिनिधित्व करता हुआ कहता हैं कि "मैं सभा सम्पूर्ण राष्ट्र की अधिष्ठात्री देवी हूं। मैं ही करणीय कार्यों की प्रणेता हूं तथा साक्षात् धनदात्री हूं। यज्ञीय भावों को उत्पन्न करने वालों में प्रथम हूँ। क्योंकि देवों द्वारा मेरा निर्माण हुआ है। मैं सभी की रक्षा करने वाली हूँ तथा सभी में प्रविष्ट होकर स्थित हूँ। मैं यह स्वयं कह रही हूँ कि मैं जिसे चाहती हूँ उसे बलवान तथा उग्र शक्ति सम्पन्न अथवा मेधावी, ब्रह्मज्ञानी ऋषि बना देती हूँ। [2]

यह सभा ज्ञान का विरोध करने वाले दुष्टों क रुलाने के लिए मानों सदा धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाये रखती है। [3] इस सभा व समिति से धन प्राप्ति की भी आशा की जाती है। "जब दिव्य गुण युक्त विद्वान जन अपनी बुद्धि रूपी आहुतिसे समितिको समृद्ध करें तब राजा का कर्तव्य होता है कि वह सभी को धन धान्यादि प्रदान करे।" [4]

सबक कल्याण करने के कारण इस सभा का नाम नरिष्टा भी है[5]। अर्थात् जो सभी मनुष्यों की कामनाओं को पूर्ण करती है या सभी के द्वारा कामना करने के योग्य है। इसी लिए इसे "नार्षद" [6] भी कहा गया है। इसकी व्युत्पत्ति की जा सकती है कि "नराः नायकाः सीदन्ति यत्रेति नृषत् तस्मै हितम्"। अर्थात् जहां श्रेष्ठ मनुष्य विचार विमर्श हेतु बैठते हैं। विद्वान मनुष्यों द्वारा सबके कल्याण के लिए किये जाने वाले कार्यों से यदि कोई कुपित होता है या कोई पाप हो जाता है

1. नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो ।। यजुः16.25 ।।
2. अहं राष्ट्री सगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् । अथर्व4:30.2-६
3. अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ 1 अथर्व.4.30.5 ।।
4. अथर्व.18.1.26 ।।
5. विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि ।। अथर्व.7.12.2 ।।
6. अथर्व.4 19.2 ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो वह सभा इस अपराध को शान्त करने वाली होती है। अतः ऋग्वेद में सभा को किल्विषस्पृत कहा गया है।

इस सभा का मूल आधार प्रजा है।[1] क्योंकि वह प्रजा के हित के लिए, प्रजा में से, प्रजा के लिये निर्मित होती है। यह सभा उस राजा के लिए इसी प्रकार सहायक होती है जैसे शरीर के लिए इन्द्रियाँ, और राजा की यह इन्द्रियरूप सभा पाँचों प्रकार के मनुष्यों में से ही निर्मित होती है।[2]

सभी मनुष्य इस सभा या समिति का सदस्य होने की कामना करते है। अपने वीर पुत्रों में गुणों की कामना करते हुए कहा गया है कि 'सभेयो युवा'' अर्थात् वीर एवं सभा के गुणों से संयुक्त हों। स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान ही सभा की सदस्य होती हैं। ऋग्वेद में कहा गया है कि कि सभा में बैठने वाली स्त्री के समान हृदयस्थित ज्ञान पूर्ण वाणी का उच्चारण करें।[3]

सभा के सदस्यों से यह आशा होती है कि उनका व्यवहार अत्यन्त शिष्ट हो वे ज्ञानी हों तथा बुद्धि एवं विवेक पूर्ण कार्यों को करने वाले हों।[4] उन्हें सदैव राष्ट्र के कल्याण की कामना करते हुए उसके लिए कभी भी कठोर एवं अभद्र शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।[5] ऋग्वेद इसका अनुमोदन करते हुए उन्हें भद्रवाचः कहता है।[6]

सभा या ससद के सदस्यों को चाहिए कि वे पूर्ण एकाग्रता के साथ संसद की कार्यवाही में भाग लें उसके प्रति किसी भी प्रकार का प्रमाद न करें। इसीलिए अथर्व का ऋषि कहता है कि हे सभ्यो जो तुम्हारा

1. मम योनिरप्स्वन्तः । अथर्व:4 30.7 ॥
2. इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु । अथर्व.20 20.2 ॥
3. मनुषो न योषा सभावतो विदथ्येव संवाक् । ऋ. 11.67.3 ॥
4. उताशिष्टा अनुश्रृण्वन्ति वह्नयः सभेयो विप्रो भरते मतीधना । ऋक्.2.25.13 ॥
5. अथर्व.12.15.6 ॥
6. भद्रवाचो बृहद्रो वय उच्यते सभासु । ऋग्वेद .6.28 6 ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन इस संसद् की कार्यव ही से हटकर कहीं दूर चला गया है या किसी एक विषय में ही प्रतिबद्ध हो गया है। वहाँ से अपनी मानसिक एव वैचारिक शक्तियों को हटाकर इस संसद के प्रति अभिरुचि प्रकट करो" [1]

सदस्यों का यह नैतिक कर्तव्य है कि वे विचारणीय विषयों में यदि उनकी कोई सम्मति हो तो, उसे अवश्य ही प्रकट करें। क्योंकि सभा का उद्देश्य राज्य कार्य में, प्रजा के हित को दृष्टिगत करके प्रत्येक पक्ष एवं व्यवस्था को सम्पुष्ट करना होता है। और प्रजा का हित करने वाले विचारों को अपने तक ही सीमित रखना अपराध है। अतः सभा को अपने विचार विमर्श द्वारा पुष्ट करना ही चाहिए जिससे उसे राजा कार्यान्वित कर सकें। [2]

पारस्परिक विचार विनिमय से सदस्यों की तद्विषयक ज्ञान वृद्धि भी होती है और वह सदा कल्याणकारी कार्यों की ओर प्रेरणा देने वाली होती है [3]। इस मंत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य सायण कहते हैं कि ससद में बैठने पर हमारी बुद्धि कल्याणी हो जाती है। [3] इसलिए प्रत्येक सभ्य यह कामना करता है कि वह इस सभा की सदस्यता से च्युत न हो जावे। [4]

सभा की सदस्य संख्या के बारे में कोई निश्चित मत प्रतीत नहीं होता। कहीं तो यह संख्या केवल मात्र सात ही है। [5] ऋग्वेद में भी कहा गया हैं कि जिससे आश्रम में सम्पूर्ण सम्पदाएँ व प्रजाएँ सुख पाती है, जिसके आधीन संसद के सात सचिव मधुर उपदेश करते हैं। [6]

---

1. यद् वो मनः परागत यद्बद्धमिहवेह वा। तद्क्ष आवर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥ अथर्व .7.12.4 ॥
. एषामहं समासोनानां वर्चो विज्ञानमाददे। अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ॥ अथर्व.7.12.3 ॥
3. भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसदि ॥ अथर्व 20.13.3 ॥
4. संसदि संसदने उपसत्तौ तद्विषये नः अस्माकं प्रमतिः प्रकृष्टा मतिः भद्रा हि कल्याणी खलु ॥ अथर्व.20.13.3 में सायणाचार्य।
. अचषच्युतं सदसो न भूम ॥ ऋक्.4.17.4 ॥
6. देवा वा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्त ऋषयस्तपंसा ये निषेदुः। अथर्व.5.17.6

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस मंत्र से सात सभा के सदस्यों की संख्या न होकर मंत्रिपरिषद की संख्या प्रतीत होती है जैसा कि श्री जयदेव विद्यालंकार का मत है। स्वामी दयानन्द जी एवं मनु महाराज के मत से यह सभा के सदस्यों की संख्या है जैसा कि पूर्व प्रकरण में विचार कर चुके हैं।

ऋग्वेद में एक स्थल पर सभा-सदस्यों की संख्या एक+बीस= इक्कीस बताई गई है कि जो तेजस्वी राजा विविध पक्षों को कानों से सुनने वाले इक्कीस विद्वानों की सभा बनाता है।[1] इन इक्कीस में एक राजा तथा शेष बीस सभासद् सूचित होते हैं।

श्री जयदेव विद्यालंकार के मत से समिति के निन्यानवे, अट्ठासी, सत्तर, छियासठ, पचपन, चवालिस, तेंतीस, बाईस था ग्यारह सदस्य होने चाहिए। उन सभासदों का नाम नृचक्षा है।[2] ऋग्वेद में इनकी संख्या को निश्चित न करके संख्या बाहुल्य मात्र भी सूचित किया गया हैं।[3]

इन्द्र की सभा में एक सहस्र ऋषि कोटि के विद्वान् रहते हैं। उनकी दृष्टि से देखने के कारण, दो नेत्रों वाले होते हुए भी वे सहस्राक्ष कहे जाते है। "इन्द्रो विद्यात् सह ऋर्षिभि: (१.२३.२४) कहकर इसी का मूल्याङ्कन किया है। इसी भाव को ऋग्वेद में ही और अधिक स्पष्ट किया गया है। वहाँ इन्द्र को हजार नेत्र वाले और हजारों के पालक के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[4] आचार्य चाणक्य द्वारा इस कथन की सम्पुष्टि होती है। वे कहते है कि इन्द्र की मंत्रीपरिषद् में एक हजार ऋषि हैं। वे इन्द्र उन ऋषियों की आँख से देखने के कारण ही सहस्राक्ष कहे जाते हैं।[5] कौटिल्य ने मंत्रिपरिषद् के प्रकरण में उक्त चर्चा की है। परन्तु यह संख्या किसी एक निश्चित संख्या का प्रतीक न होकर बाहुल्य का प्रतीक है जैसा कि पहले देखा जा चुका है। अतः इसकी

---

1. यस्मिम् विश्वा अधिश्रियो रणन्ति सप्त संपदः। (8.92.2) में जयदेव विद्यालंकार ।।
2. एक च यो विशति च श्रवस्था ।ऋक् .7.18.11 ।।
3. अथर्व .19.47.3-5 में जयदेव विद्यालंकार ।।
4. ऋक् 2 24.13 ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्यधिक संख्या के आधार पर इसे मंत्रिपरिषद की अपेक्षा सभा एवं उसके सदस्य मानना श्रेष्ठ है।

मनुस्मृति में कहा गया है कि जब सुगम कार्य भी बिना सहायता के पूर्ण करना कठिन हो जाता है तो महान राज्य कार्य एक पुरुष से कैसे सम्पन्न हो सकता है अतः राजा को मन्त्रियों का चयन करना ही चाहिए।[1] आचार्य चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में आचार्य विशालाक्ष का यह मन्तव्य प्रस्तुत किया है कि अकेला राजा सम्पूर्ण वस्तु स्थिति पर विचार नहीं कर सकता, अतः उसे मन्त्रिपरिषद् बनाकर ही कार्य करना चाहिए।[2] इसी प्रसंग में अपना विचार प्रकट करते हुए चाणक्य करते हैं "अज्ञात का ज्ञान, ज्ञान का निश्चय, निश्चय का दृढीभाव, मतभेद में संशय रहित होना, एक देश का ज्ञान होने पर शेष को पूर्ण करना मन्त्रिपरिषद् का ही कार्य है। मन्त्रिपरिषद् के बिना राजा का कार्य नहीं चल सकता। अतः विशिष्ट विषय के विद्वानों के साथ राजा अवश्य सम्मति करें।[3]

राजा को विचार विनिमय द्वारा ज्ञान-तत्व का बोध कराने वाली मन्त्रिपरिषद् के बारे में बताते हुए भीष्म कहते हैं कि चार ब्राह्मण, अठारह क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य, तीन शूद्र, एक सूत सैंतालीस व्यक्ति एक सभा में हों, इसका नाम राष्ट्रीय हो। इसमें प्रस्ताव पारित होने के बाद ही राजा उस आज्ञा को राष्ट्र में प्रचारित कराये।[4] मन्त्रियों की संख्या के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। चाणक्य ने विभिन्न आचार्यों के मत प्रस्तुत करते हुए कहा है। मनु के अनुयायी, बृहस्पति की परम्परा को स्वीकार करने वाले, सोलह, औशनस नीति को मानने वाले बीस मन्त्रियों की संख्या मन्त्रिपरिषद् के लिए उपयुक्त मानते हैं। अपना मत प्रकट करते हुए चाणक्य कहते हैं कि यथासामर्थ्य

1. मनुस्मृति–7–55।
2. कौ० अर्थ०1-15–20।
3. कौ० अर्थ० 1–15–22–23।
4. महा० शान्ति० 87–7–12।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा को अपनी मन्त्रिपरिषद् बनानी चाहिए।[1]

राजा को चाहिए कि छोटे, सरल कार्यों में दो-चार मन्त्रियों से पूछ कर ही कार्य कर लेवे। परन्तु कठिन कार्यों या विषम परिस्थितियों में सम्पूर्ण मन्त्रिपरिषद् को बुलावे। उस समय जिस विचार पर अधिक सदस्य सहमत हों, उसी कार्यसिद्धिमें समर्थ उपाय का आश्रय ले।[2] मनु महाराज कहते हैं कि शासन इत्यादि का कार्य देखने के लिए पृथक् अमात्य होने चाहिएं।[3] अर्थात् विभिन्न विभागों के पृथक्-पृथक् अमात्य हों।

संहिता ग्रन्थों से मन्त्रिपरिषद् का विवरण प्राप्त नहीं होता है। प्रतीत होता है कि यह सम्पूर्णकार्य सभा या समितिही करती है। यजुर्वेद में मन्त्रणाकर्ता पुरुष के लिये नमस्कार किया गया है।[4]

राजा व सभा-समिति में अत्यन्त निकट सम्बन्ध होता है। यहां तक कि सभा व समिति को राजा की सदा मिलकर चलने वाली दो कन्याएं ही कह दिया गया है। इस कथा के अनुसार राजा सभा व समिति का पिता अर्थात् पालक है। उनकी रचना करना राजा का धर्म है। तभी उसका पितृत्व सिद्ध होता है। अथर्ववेद में कहा गया है कि "सभ्यः सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः (19–55–5)"। अर्थात् हे सभासदों! इस सभा की गंभीरता को बनाये रखकर इस सभा की रक्षा में सहयोग प्रदान करो। ऋग्वेद में राजा को दोनों सभाओं के पुत्र के रूप में भी वर्णित किया गया है।[6]

ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थल पर भी राजा की सभा व समिति रूप दो माताओं का वर्णन किया गया है।[7] ये दो माताएं राजा को

---

1. कौ० अर्थ० 1–15–53-56।
2. कौ० अर्थ० 1–15–63–64।
3. मनु० 7–120।
4. यजु० 16–19।
5. अथर्व० 7–12–1।
6. विभुर्विश्वस्मै–सेधिरो द्विमाता। ऋक् 1-31–2॥
7. द्वि माता बन्धनश्चरति वत्स एकः।ऋक् 3-55-6।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजपद पर स्थिर करने वाली होने के कारण कही गई हैं। अथर्ववेद में अथर्वा ऋषि कहते हैं कि यह पृथ्वी, ये सम्पूर्ण संसार ये विशाल पर्वत, यह राष्ट्र सभी स्थिर हैं। इसी प्रकार हे राजन् ! तुम्हें यह समिति ध्रुव रूपसे राजपद पर स्थिर करे। सम्पूर्ण सूक्त राजा के स्थिरीकरण का वर्णन करता है।[1] इसी प्रकार एक अन्य सूक्त में भी यही बात दोहराई गई है। इस श्रेष्ठ राजा से राज्यभ्रंश न हो और सम्पूर्णप्रजा राजा की कामना करने वाली बनी रहे। हे राजन् ! तू ध्रुव के समान सुस्थिर होकर इस राष्ट्र को धारण कर।[2] राजा की निर्मात्री होने के कारण ही सभा व समिति को माता कह दिया गया है।

सभा, समिति व राजा के पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट करने के लिए पिता-पुत्री या माता-पुत्र का साम्य ही सर्वोत्कृष्ट हो सकता है। जैसे पिता पुत्री के अनुरोध को स्वीकार करता है और उसकी सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करता है तथा उसकी रक्षा का सम्पूर्ण भार वहन करता है। इसी प्रकार राजा सभा व समिति की रक्षा करता है तथा समस्त आदेश एवं अनुरोध का पालन करता है। जैसे माता पुत्र को श्रेष्ठ मार्ग पर चलाती है तथा आवश्यकतानुसार कठोर वचन एवं दण्ड का भी प्रयोग करती है, इसी प्रकार सभा व समिति राजा को पोषण एवं राज्य च्युति के दण्ड भय से सदा श्रेष्ठ मार्ग पर चलने को प्रेरित करती है। यदि राजा निरंकुश हो जावे तथा प्रजा को रुष्ट कर देवे तो कोई भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता है। उसके मित्रगण या स्वयं समिति भी उस कोप से उसे नहीं बचा सकते।[3] इसलिए राजा को उत्तम भूमि का अधिपति होने के साथ ही, प्रजा को सुरक्षा प्रदान करने के लिए, श्रेष्ठ प्राण शक्ति से सम्पन्न होना चाहिए, तथा शत्रु के धर्षण के लिए, सूर्य के समान दीप्तिमान्, प्रजाजन के लिए महान् ऐश्वर्य का स्वामी होना चाहिए। इन सबके साथ ही श्रेष्ठ मन एवं विचारशील

---

1. ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह। अथर्व 6–88–3।
2. अथर्व 6–87–1–2।
3. नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम्॥ अथर्व. 5–19–15।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभा का अधिपति होना आवश्यक है।[1]

यदि सभा अन्याय या अधर्म करती है तो अधर्म के चार भाग हो जाते हैं। एक भाग अधर्म के कर्त्ता, दूसरा भाग साक्षी तीसरा सभा के सदस्यों और चौथा राजा को प्राप्त होता है।[2]

समिति के सदस्यों का कर्त्तव्य है कि वे निरन्तर जागरूक रहकर यह देखते रहें कि कोई दुष्ट पुरुष राजा बनकर प्रजा को न सताने लगे। कहीं प्रजा रूप भेड़ का स्वामी भेड़िया न बन जावे।[3] इसीलिए कुत्स आङ्गिरस ऋषि ता समिति को "देवत्राता", अर्थात् देवों की रक्षक कहकर उसको महत्त्व प्रदान करते हैं।[4]

इन सभा व समितियों के बैठने व विचार करने के लिए बड़े-बड़े सभागार बनाये जाते हैं। राजा को चाहिए कि नगर से दक्षिण की ओर एक सभा भवन बनवाये, जिसके दक्षिण एवं उत्तर की ओर अनेक द्वार हों। जिससे भीतर एवं बाहर जो कुछ हो रहा है वह दृष्टिगोचर हो सके।[5] ऋग्वेद में सभाओं में प्रशंसा के योग्य श्रेष्ठ गृह बनाये जाने का उपदेश दिया गया है।[6] ये गृह अत्यन्त विशाल रहे होंगे, जिनमें बहुत बड़ी सख्या में मनुष्य बैठकर परस्पर समस्याओं का समाधान करते होंगे तथा राष्ट्र की उन्नति के विचारों को कार्यरूप में परिणत करने का प्रयास किया जाता होगा।

प्रतीत होता है कि इन सभा व समिति या मन्त्री परिषद में निश्चय पर पहुँचने के लिए सभी के विचार विनिमय के उपरान्त उसका सारतत्व स्वीकार किया जाता है।[7] परन्तु सर्वसम्मति पर पहुँचने का

1. इडावाँ एषो असुर प्रजावान्दीर्घो रयिः पृथुबुध्नः सभावान्-ऋक 4-2-5
2. बौधायन सूत्र 1–10–8 ।।
3. अथर्व. 19-47-6।।
4. सा देवत्राता समितिर्वभूव ।। ऋक्. 1–95–8 ।।
5. आपस्तम्ब सूत्र ।। 2–10–25–5 ।।
6. भद्रं गृहं कृणुथ…………। ऋक्. 6-28-6 ।।
7. एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमाददे।
   अस्मा: सर्वस्या: संसदो मामिन्द्र भागिनं कृणु ।। अथर्व. 7–12–3 ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयास भी होता है तथा उस निर्णय को अच्छा समझा जाता है।[1] इस सभा व समिति या मन्त्री परिषद् में योग्य एवं सदाचारी तथा विशेषज्ञ पुरुष ही हाते हैं। बौधायन कहते हैं कि कई सहस्र ब्राह्मणों का समूह भी राज्य नियम निर्णायक परिषद् नहीं कहला सकता, यदि वे अपने पवित्र कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते हों। अतः सहस्र मूर्खों की सम्मति की अपेक्षा एक धर्मात्मा ब्राह्मण की सम्मति अधिक आदरणीय है।[2]

सभा व समिति का स्पष्ट रूप से कोई भेद वर्णित नहीं है। परन्तु संहिताओं में प्राप्त संकेतों के आधार पर कहा जा सकता है कि समिति का स्थान सभा की अपेक्षा श्रेष्ठ है। सभा माण्डलिक राजा की सीमा तक ही प्रभावशाली है। परन्तु समिति का कार्यक्षेत्र विस्तृत होता है। वर्तमान में इनकी स्थिति को हम विधान सभा तथा संसद के रूप में समझ सकते हैं। समिति सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करतो है, जबकि सभा एक सीमित क्षेत्र की ही प्रतिनिधि होती है।

सभा में राजा आता है या नहीं,यदि आता है तो सदा आता है, या कभी-२, इसे निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु समिति में तो राजा आता ही है। ऋग्वेद में कहा गया है "जैसे राजा समिति में गमन करता है"[3]

समिति में छोटे माण्डलिक राजा भी आते हैं।[4] अतः समिति सम्राट् की सभा है। यहाँ पर राजानः बहुवचन इस बात का सूचक है कि समिति में अनेक राजा इकठ्ठे होते हैं।

सभा तथा समिति में केवल मात्र राजनीति सम्बन्धी चर्चा ही नहीं होती है। अपितु ज्ञान विज्ञान एवं आध्यात्मिक चर्चा भी होती है। छान्दोग्योपनिषद् में आरुणि के पुरु श्वेतकेतु के पाञ्चाल देशीय समिति में जाने तथा वहाँ पर पाञ्चालराज प्रवाहण जैबलि द्वारा

1. ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचस. ॥ 7-12-2 ॥
2 बौधायन सूत्र. 1-1-1-9 ॥
3. राजा न सत्यः समितीरियानः। ऋक् 9-92-6 !
4. राजानः समितिखिवः। यजु० 12-80।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्यात्म सम्बन्धी प्रश्न पूछे जाने का वर्णन प्राप्त होता है।[1] इसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं "आरुणेय: पञ्चालानां जनपदानां समितिं सभामेयाम्"। जनपदपर आधिपत्यके कारणही समिति का स्पष्टीकरण सभा शब्द से किया गया है।

समिति के अध्यक्ष सम्राट् के आधीन ही सभा, समिति व सेना होती है। राजा के आधीन समिति नहीं होती है। अथर्वा ऋषि कहते हैं कि उस सम्राट् के वशीभूत होकर ही सभा, समिति व सेना रहती है, जो प्रजा का अनुगामी होता है और तब वह सभा, समिति व सेना का अत्यन्त प्रिय हो जाता है[2]।

"कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" का संदेश देने वाली वैदिक प्रज्ञा केवल समिति पर जाकर ही समाप्त नहीं हो गई थी। अपितु सम्पूर्ण राष्ट्रों को एक सूत्र में बांधने, उनमें परस्पर भ्रातृत्व उत्पन्न करने का विचार भी दृढ था। जिससे सभी राष्ट्र परस्पर प्रेम एवं सहानुभूतिपूर्वक शान्ति से रह सकें तथा श्रेष्ठ भावों का उदय हो एवं हानिकर भावों को दमित किया जा सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वर्तमान राष्ट्रसंघ की भाँति एक आमन्त्रण अर्थात् सारे जगत् की राजसभा का संकेत अथर्ववेद में हमें प्राप्त होता है।

अथर्ववेद में एक सूक्त का प्रथम भाग स्वतन्त्र रूप से, अराजक स्थिति से लेकर आमन्त्रण तक इसका वर्णन करता है। इस पृष्ठभूमि में आमन्त्रण का अर्थ स्वत: स्पष्ट हो जाता है। प्रारम्भ में अराजक स्थिति को देखकर सब भयभीत हो गए। तब वह स्थिति गृहस्थ में परिवर्तित हो गई। गृहस्थ से ग्राम पंचायत (आहवनीय) तक विकास हुआ। उसके बाद सभा की स्थिति प्राप्त हुई। सभा का विस्तृत रूप समिति बना। समिति को भी विकास की दिशा में एक पग मानकर आमन्त्रण

1. छान्दोग्य उप० 5-3।
2. तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन्॥
सभायाश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ अथर्व. 15-1(9)-2-3॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का उपदेश अथर्वाचार्य ऋषि ने दिया"[1] ।

इस आमन्त्रण के अध्यक्ष के लिए भी सम्राट् शब्द का ही प्रयोग किया जाता है, जिस तरह समिति के अध्यक्ष सम्राट् को द्विमाता कहा गया है। इसी प्रकार आमन्त्रण के सम्राट् को सभा, समिति व आमन्त्रण इन तीनों का ही पुत्र कह दिया गया है[2] ।

वैदिक ऋषियों ने जिस लोककल्याणकारी सत्य का साक्षात्कार किया, उसके अन्तर्गत सम्पूर्ण विश्व के सभी द्विपाद् एवं चतुष्पाद अन्तर्भूत हो जाते हैं। अतः यह स्वीकार करना कि उनकी कल्पना किसी एक देश या क्षेत्र तक सीमित थी, सर्वथा अनुचित है। अतः आमन्त्रण या विश्व-सभा के बारे में कोई भी संदेह नहीं होता है। इस व्यवस्था में मानव को स्वतन्त्रता का उचित स्थान है और आत्म विकास के लिए पूर्ण अवसर उपलब्ध होते हैं। अनेक प्रकार के युद्ध इत्यादि के होते हुए भी समाज के आदर्श धूमिल नहीं होते हैं। अतः यह कहना अनुचित नहीं होगा कि राजनीति से सम्बन्धित अनेक वैदिक सिद्धान्त आधुनिक राजनैतिक सिद्धान्तों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं।

---

1. विराड्वा इदमग्र आसीत्तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥ सोदक्रामत्सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥ 2 ॥ सोदक्रामत्सा आहवनीये न्यक्रामत् ॥ 4 । सोदक्रामत्सा सभायां न्यक्रामत् ।। 8 ॥ सोदक्रामत्सा समितौ न्यक्रामत् ॥ 10 ॥ सोदक्रामत्सामन्त्रेण न्यक्रामत् ॥ 12 ॥ अथर्व. 8.10.1. ॥

2. त्रिमाता विदथेषु सम्राट् । ऋक् 3.56.5. ॥

— o —

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेना

सेना शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए निरुक्तकार यास्क कहते है कि "सेना सेश्वरा समानगतिर्वा" अर्थात् "इनेन सेना सेश्वरा इत्यर्थः।" इन शब्द स्वामी का वाचक है। जो स्वामी से युक्तहो अथवा शत्रु विजय रूप एक ही लक्ष्य लेकर बढ़ती है, वह सेना कहाती है। सैनिकों के लिए वेदों में मरुत् शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। इन मरुतों के माध्यम से सैनिकों के गुणों का भी स्पष्टीकरण किया गया है। ये मरुत् प्रायः इन्द्र के साथ वर्णित होते हैं। इसलिए इन्द्र का एक नाम मरुत्वान् भी है (यजु० 7–38)। सामान्य रूप से इन्द्र को देवराट् के रूप में स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार इन्द्र एवं मरुत् को राजा एवं सेना के रूप में जानना सर्वथा युक्तियुक्त है। इन्द्र एवं मरुत्-गण में सखाभाव कहकर [2] सेना व राजा के मैत्री सम्बन्धों पर ध्यान आकृष्ट किया गया है। यदि राजा व सेना एक मन वाली नहीं होगी तो वह सेना सेश्वरा नहीं होगी और राजा की तो सत्ता का आधार ही सेना है। तभी वह राजा मित्र रूप में सैनिकों के साथ मिलकर शत्रु सेना पर विजय प्राप्त कर सकता है [3] और अपने ऐश्वय का प्रदर्शन करता है। यजुर्वेद में भी कहा गया है कि हे सैनिको ! इस समान उत्पन्न मित्रभूत इन्द्र के साथ शौर्य प्रदर्शित करो। [4] राजा का कर्तव्य है कि जब दिव्य गुणों से युक्त सेनाए शत्रु-पान-मर्दन करती हुई आगे बढ़ें और जयघोष उठ रहे हों, तब वह इन सेनाओं को नेतृत्व प्रदान करे। [5] इससे सैनिकों के मनोबल में वृद्धि होती है और वे सैनिक और अधिक उत्साह के साथ क्रियाशील हो जाते हैं। हे मघवत् ! उद्हर्षय मघवन् आयुधानि उत् सत्वनां मामकानां मनां-

1, निरुक्त–2–3।
2, अयमिन्द्रो मरुत्सखा। ऋक्–8–76–2।
3, ऋक् 8–96–7।
4, यजु० 17–38।
5. वही–17–40॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सि (यजु-17-42)। हमारे समस्त शास्त्रों को तेज एवं चमक प्रदान कीजिए, जिससे कि गुरुवृद्धं आचार्य, सात्त्विक मन वाले भी अपने सैनिकों का उत्साह देख हर्षित हों।

राजनीति में सेना का महत्त्व इससे ही स्पष्ट हो जाता है कि जो राजनीति, राजा को आधार बनाकर उसकी परिधि में ही घूमती है, उस राजा का सम्पूर्ण ओज, बल, सहिष्णुता सब कुछ यह सेना ही है। अतः शत्रु विजय रूप योग के लिए क्षत्र शक्ति की अनिवार्यता है।[1] इस भाव को गोपथ का ऋषि और भी अधिक मार्मिक शब्दों में कहता है कि सेना तो राजा की पत्नी (पालिका) ही है।[2] स्वामी दयानन्द भी इसका पूर्ण समर्थन करते हैं। सेनायाः पतिरिन्द्रः समाडव (इन्द्रः समर्थो राजा, परमैश्वर्य युक्त सम्राट्।[3] इस प्रकार वैदिक ऋषियों ने राजा व सेना के सम्बन्ध को ही महत्त्वपूर्ण एवं गंभीर समझा। ऋषियों ने मन्त्रों के माध्यम से सिद्धान्त को सर्वविदित बताया कि यदि सेना को नियन्त्रित नहीं रखा गया तो वह नेतृत्व विहीन होकर अपना ही विनाश कर लेगी। अतः उस पर प्रजा द्वारा चुने गए राजा का नियन्त्रण आवश्यक है।

सेना का मुख्य कार्य है राष्ट्र एवं प्रजा तथा उसके मनोबल की रक्षा करना।[4] यदि सेना इन तीन की रक्षा करने में समर्थ होती है तो अन्य धनधान्यादि के स्रोत अपने आप खुल जाते हैं। आथर्वणिक ऋषि का मत है कि ये मरुत्गण मेरी रक्षा करें।[5] जो दुष्ट हम पर आक्रमण करना चाहते हैं, हमारे धनधान्य पुत्र पौत्रादि तथा मनोबल को नष्ट करना चाहते हैं, वे हमारे वेगवान् एवं शक्तिशाली सैनिकों से सम्पन्न राजा से टकराकर हृदय में भय धारण करके पराजित हुए शत्रु दूर भाग

1. अथर्व–10–5–2
2. गोपथ-उत्तर–2–9
3. ऋग्वेद भाष्य–स्वामी दयानन्द-7–32–12 तथा 1–168–1
4. अथर्व–8–9–13
5. वही–19–45–10

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जावें।

सेना की विशालता भी शत्रु के लिए भय का कारण बनती है। अतः बहुत से स्थलों पर शत्रु युद्ध में हीन मनोबल वाले होकर सरलता से पराजित हो जाते हैं। इसलिए अथर्ववेद उपदेश देता है कि ये वीर सैनिक संख्याओं में बहुत हों। इन वीर सैनिकों के लिए रुद्र शब्द का प्रयोग भी हमें प्राप्त होता है। ऋग्वेद में कहा गया है कि हे मनुष्यो! दृढ़ धनुष वाले, तेज बाण छोड़ने वाले, दानादि गुणों से युक्त, अपराजेय, दुर्धर्ष, सदा शत्रुओं को पराजित करनेवाले और तीक्ष्ण शस्त्र से युक्त रुद्र की प्रशंसा करो।[1] रुद्र एवं इन्द्र की मैत्री एवं निकटता भी मरुत् एवं इन्द्र के समान ही वर्णित की गई है।[2] "हे रुद्रो! तुम इन्द्र के साथ प्रसन्न होकर स्वर्णिम रथों पर बैठकर आओ"। उक्त मन्त्र में बहुवचन में प्रयुक्त 'रुद्रासः' शब्द महत्त्वपूर्ण है। इस पृष्ठभूमि में जब हम यजुर्वेद पर दृष्टि-पात करते हैं तो कहा गया है कि असख्य सहस्र अर्थात् संख्या रहित हजारों, दुष्टों को रुलाने वाले वीर योद्धा हमारी इस भूमि पर हैं, जो आवश्यकता होने पर अपने असंख्य धनुषों को तान लेते हैं।[3] इस प्रकार सेना की बहुसंख्या भी स्वयं में महत्त्वपूर्ण है। "रुद्र शब्द का अर्थ भी इसकी पुष्टि करता है। रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए यास्कमुनि कहते हैं -'जो गर्जन करता है या गर्जन करता हुआ इधर-उधर गति करता है अथवा शत्रुओं को रुलाता है।' तैत्तिरीय सहिता में कहा गया है-'रुद्रो वै क्रूरः।'[4] जो क्रूरतापूर्वक दुष्टों का दमन करता है। आचार्य सायण, रुद्र में दुष्ट-दमन की अपेक्षा स्व पक्ष की रक्षा को प्रमुख समझते हैं।[5]

---

1. ऋग्वेद-7-46-1।
2. वही-5-57-1।
3. यजु०-17-38।
4. तैत्तिरीय संहिता-6-1-7-7।
5. अथर्व०-18-1-40- के भाष्य में सायणाचार्य।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्र की रक्षा करना सैन्य शक्ति का कार्य है। परन्तु इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिये। अथर्ववेद में कहा गया है 'राष्ट्र के प्रत्येक जन को अनिवार्य रूप से सैनिक शिक्षा दी जानी चाहिये [1], जिससे आवश्यकता पड़ने पर समग्र राष्ट्र शत्रु के विरुद्ध खड़ा किया जा सके। इससे युद्ध में लड़ने वाले सैनिकों को अत्यन्त उत्साह व शक्ति प्राप्त होती है।

सेना की विशालता ही महत्वपूर्ण नहीं होती, उसकी व्यवस्था एवं अनुशासन उससे भी अधिक महत्वपूर्ण हैं। व्यवस्था के अभाव में वीर पुरुषों से युक्त तथा विशाल होते हुये भी सेना भीड़ मात्र होकर रह जायेगी तथा विजय का लक्ष्य प्राप्त नहीं होगा। विजय का लक्ष्य धूमिल हो जायेगा। अतः विजय की कामना करने वाली सेना के सैनिक एवं घोड़े भी निरन्तर चलने वाले, उत्तम शिक्षित शीघ्रगामी एवं हंसों के समान पक्तिबद्ध होकर कार्य करने वाले हों [2]। सारी सेना राजा के वश में रहने वाली एवं राष्ट्र तथा राजा का कल्याण करने वाली हो।

श्रेष्ठ सेना के लिये उत्तमोत्तम शस्त्रास्त्र बहुत महत्वपूर्ण है। इसलिये सैनिकों के लिये तीक्ष्ण बाणादि आयुध बहुत आवश्यक हैं। उनसे भी अधिक आवश्यक है उन आयुधों को प्रयोग करने वाले सैनिकों का स्वास्थ्य, उनकी मानसिक स्थिति एवं मन्यु। अथर्ववेद में ऋषि प्रार्थना करता है कि हे मन्यु रूप राजन्! आपके साथ समान रथ पर आरुढ़ होकर प्रसन्न मन वाले, तीक्ष्ण आयुधों से सम्पन्न, अग्नि के समान तेजस्वी योद्धा विजय के लिये आगे बढ़ें। [3] हे उग्र स्वभाव युक्त तथा इस भूमि को अपनी माता समझने वाले सैनिको! अपने समान वीर राजा के साथ मिलकर तुम शत्रुओं को पीस

1–विशम् विशम् युद्धाय संशिशाधि' अथर्व 4. 31. 4 ॥

2–यजुर्वेद 29. 21

3–अथर्ववेद 4. 31. 1. 1.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डालो।[1] उक्त मन्त्र में वर्णित सैनिकों का राष्ट्र के प्रति मातृत्व ही उन्हें युद्ध में विजय प्राप्ति के लिये प्रतिबद्ध करता है। तभी योद्धा अपने प्राणपण से समरभूमि में संलग्न होता है। हे सैनिको ! तुम शत्रुओं को ललकारते हुये क्षण भर के लिये भी असावधान हुये विना, अतएव निमेष रहित, जयशील बनकर शत्रुओं के लिये अयोघ्य हो जाओ। हे शत्रुओ ! सावधान। "महामनसा भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुद-स्यात्' [2]। महामनस्वी, भुवनो को भी च्युत कर देनेवाले दिव्य वीरों का जयघोष ऊपर उठ रहा है।

जयघोष के साथ सेनायें अपने ध्वज भी धारण करती हैं।[3] जब सेना की अनेक टुकड़ियां अपने-अपने ध्वज फहराती हुई इकट्ठी होती हैं तथा अपने अस्त्र-शस्त्र चमकाती हैं, तभी अपने दल में उत्साह एवं शत्रु के मन में भय का संचार हो जाता है और विजय मानों निश्चित हो जाती है। हमारे ध्वजों के एकत्र होकर मिल जाने पर बाण स्वतः ही विजय प्राप्त कर लेते हैं [4]। वीरों के मन में यह भाव उठना स्वाभा-विक ही है कि ये तुच्छ शत्रु मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं। आचार्य चाणक्य का भी मत है कि तूर्यघोष, ध्वजा, पताका आदि के प्रयोग से एक व्यूह को सेना के अन्य अंगों की सूचनायें दे देवे।[5]

वैदिक काल में स्थल सेना का तीन रूपों में वर्णन प्राप्त होता है। ये तीन रूप हैं-रथी, घुड़सवार एवं पदाति। हे शत्रुवधकर्त्ता राजन् ! आप हमारे वीरों के मनों तथा शस्त्रों को उत्कृष्ट बनाइये। घुड़सवार सेना तथा रथी सेना का जयघोष सदा आगे ही बढ़ने वाला हो [6]।

---

1. अथर्व-5-21-11
2. अथर्व-19-13-10 ।। यजु०-17-41
3. अथर्व-11-10-1
4. अथर्व-19-13-11
5. स तूर्यघोषध्वजपताकाभिर्व्यूहागांनां संज्ञां स्थापयेत् ।। कौटिल्य अर्थ-शास्त्र 10-6-49
6. यजुर्वेद-17-42

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह घोड़ा गरदन, बगल एवं मुख में बंधा हुआ चाबुक लगते ही चल पड़ता है तथा मार्ग की सम्पूर्ण कुटिलताओं को फांद जाता है।[1] यजुर्वेद 29–21 में तो स्पष्ट ही कहा गया है कि हे मनुष्यों ! काठी से सजे हुये, स्वत: मानो सवार होने का आमन्त्रण देते हुये, युद्ध में निश्चित विजय के लिये ये शीघ्रगामी घोड़े हंसों के समान पंक्ति बांधकर आगे बढ़े'! अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों में सेना के लिये 'त्रिषंध' विशेषण प्राप्त होता है।[2] ऋग्वेद में कहा गया है कि हे वीर सेनापति! तेरे साथ युद्ध में जाने के लिये हजारों मनोहर घोड़े एवं सेना हो[3]। रथ तो वैदिक काल का प्रसिद्ध वाहन है। प्राय: सभी देवता, विशेषकर इन्द्र तो सदा ही रथ पर बैठकर ही आते हैं।

चारों वर्णों में क्षत्रिय को युद्ध के लिये श्रेष्ठ माना गया है। सेना में अन्य लोग भी हो सकते हैं। परन्तु सामान्य सेना की तुलना क्षत्रिय सेना से नहीं की जा सकती। स्वयं ऋग्वेद इसका साक्षी है।[4] क्षत्रिय ही शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से प्रबलता प्रदान करता है और शत्रु प्रबल सेना के ही आधीन होता है। सैनिकों के मनोबल को बनाये रखने के लिये आवश्यक है कि उन्हें उत्साहित किया जाये। उनकी निन्दा कभी नहीं करनी चाहिये। हमारे बीच में से जो पितर राष्ट्र की भूमि के लिये युद्ध करने वाले हैं, उनकी निन्दा व उपेक्षा करके न तो हसी करें नाहीं निन्दा।[5] अपितु उन्हें उत्साहित करने हेतु युद्ध में जाते समय माल्यार्पण आदि के द्वारा सत्कृत करें।[6] न केवल सैनिक बल्कि सेना से संबंधित व्यक्तियों को भी सम्मान प्रदान करना चाहिये। 'सेना व सेनापति के लिये, रथी एवं पदातियों के लिये, क्षत्ताओं और सेना के लिये, युद्ध सामग्री संग्रह करने वालों के लिये, बड़े अधिकारियों एवं छोटे

1. ऋग्वेद-4-40-4।
2. त्रिषंधेरिय सेना सुहितास्तु मे वो। अथर्ववेद 11-10-4
3. ऋग्वेद 9-78-2
4. असनंक्षत्रं महि क्षत्रं स्थविरं वृष्णयं च। ऋग्वेद 1-54-8
5. वही 3-54-4
6. जैत्रायेन्द्रया वह सुम्रजम्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदाधिकारियों के लिये हमारा नमस्कार हो ।' इसके साथ ही प्रसिद्ध सेना वाले सेनापतियों, दुन्दुभि इत्यादि युद्ध वाद्य बजाने वालों और वीरों का आपसी सामंजस्य स्थापित करने वालों को उत्साहित करने वालों को हमारा नमस्कार हो।[1]

वीरों को आदर प्रदान किया जाता है तो कायरों को हेय दृष्टि से देखा जाता है। स्त्रियां भी अबला नहीं हैं। आवश्यकता होने पर वे भी युद्ध में भाग लेती हैं। युद्धदक्ष, महत्ता की कामना करने वाली राजरानियां कल्याण की कामना से युद्ध में गमन करती हैं।[2] वृषाकपि इन्द्राणी गर्व से कहती है "यह युद्ध मुझे अबला समझता है। मैं स्वयं वीर हूँ और वीर कि पत्नी हूँ, वीर पुत्रों की माता हूँ।" पुरा काल से ही नारी यज्ञ और युद्ध में जाती रही है।[3] ऋग्वेद में खेल ऋषि की पत्नी विश्पला की चर्चा मिलती है, जिसके पंर युद्ध में कट गए थे।[4] यजुर्वेद में तो स्पष्ट घोषणा प्राप्त होती है कि 'हे नारी। तू शत्रू को सहन न कर, हे सामर्थ्यशालिनी! तू शत्रु की सेना का मुकाबला कर और उसको परास्त कर।[5]

सामान्य रूप से दोनों सेनायें युद्ध के मैदान में एक दूसरे के सम्मुख आकर खड़ी हो जाती हैं। दोनों ओर से नाना प्रकार के युद्ध वाद्य बजाए जाते हैं। वीरों के दल अपने-अपने ध्वज उठाकर तथा शत्रु को ललकार कर अपने पक्ष को उत्साहित करते हैं। तब हे सुभटो! तेज दौड़ो और अपने राजा की आज्ञा को स्वीकार करके भेड़िये के द्वारा भेड़ के समान शत्रु की सेना को झंझोड़ दो। तुमसे बचकर शत्रू जीवित न जाने पाये।[6]

उठो सावधान हो जाओ। शत्रु सेना से परस्पर आघात-प्रत्याघात करते हुये उन्हें बड़ी संख्या में बुलबुलों के समान समाप्त कर दो[7]। इस प्रकार शत्रु की सेना की पंक्तियों को तोड़ते हुये हे

1–यजुर्वेद 16. 26, 35 112- अथर्व 20. 128. 11.
3–अथर्व 20. 126. 9, 10 ॥ ऋग्वेद 10. 86. 9.
4–ऋग्वेद 1. 116. 15. 5–यजुर्वेद 13. 26
6–अथर्ववेद 5. 8. 4. 7–अथर्ववेद 11. 9. 3

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जयशील सैनिको! आगे और निरन्तर आगे बढ़ते रहो।[1] व्यूह बनाकर भी शत्रु को पराजित किया जाना सरल है। शत्रु सेना का मनोबल टूट जाने पर उन्हें सर्व (भोग) व्यूह से ऐसे ही घेर लें[2] जैसे सर्प अपने शिकार को लपेट लेता है और फिर मारे विना नहीं छोड़े।

आचार्य चाणक्य का भी मत है कि जिधर शत्रु क्षीण हो या जिधर से भय हो उधर ही अपनी सेना का व्यूह बनायें। अनेक व्यूहों का वर्णन करते हुये वे कहते हैं : 'समस्ता नामन्यावृत्तिर्मार्गं; ।[3]

कभी-कभी छापामार हमले भी प्रयोग में लाये जाते हैं। परन्तु प्रतीत होता है कि वह प्रायः छली शत्रुओं के साथ ही अधिक होते हैं। सामान्यतः तो दोनों सेनायें सम्मुख आकर ही युद्ध करती हैं। पर्वतीय भूमि या ऊँचे-नीचे प्रदेशों में, जैसे सिंह, दूरस्थ या निकटस्थ शत्रु पर उसके सावधान होने से पूर्व ही आक्रमण कर देता है , इसी प्रकार हे क्षत्रियत्व को धारण करने वाले राजन्! तू शत्रुओं को अपने तीव्र आयुधों से समाप्त कर दे।[5]

यह बड़ी पुष्ट धारणा थी कि युद्ध-भूमि में शत्रु से युद्ध करते हुये जो वीर प्राण त्यागते हैं, वे पुरुष सहस्रों यज्ञों में दक्षिणा देने के बाद प्राप्त होने वाले स्वर्ग-सुख को प्राप्त कर लेते हैं।[4] यह भावना कालान्तर में और भी बद्धमूल हुई। भगवान् कृष्ण ने भी अर्जुन को युद्ध से विरत होने पर यही कहा था—

हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

श्रीमद्भगवद्गीता 2--37

तैत्तिरीय संहिता में मरुतों के सात गणों का उल्लेख प्राप्त

---

1. अथर्व 19-13-9
2. अथर्व 11-9-5
3. कौटिल्य अर्थशास्त्र 10-5-66
4. अथर्व 7-84-3
5 अथर्व 18-2-17

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है।[1] अथर्ववेद में इनको संख्या २१ कही गई है।[2] पं० बुद्धदेव विद्यालंकार (स्वामी सर्म्पूणानन्द) ने ऋग्वेद (१०.७५) का अर्थ करते हुये (राजेव युध्वा नयसि त्वमित्) के आधार पर सेना का २१ शाखाओं का सकेत किया है। उसे उद्धृत करना उचित ही है।

1–सिन्धु :– सेना का अग्रगामी भाग।

2–गंगा :– वह शाखा जो चरित्रबल तथा न्याय एवं प्रेम सिखाती है और न्याय बल देती है।

3– यमुना :– वह शाखा जो नियम पालन सिखाती है।

4– सरस्वती :– वह शाखा जो जलादि सामग्री सभरण करती है।

5– शुतुद्री :– तीव्र वेगयुक्त वाहनों वाली आशुगामिनी शाखा।

6– परुष्णी :– विविध कार्यों के लिये विविध पर्ववती प्रकाशवती सैन्य सन्निवेश शाखा।

7– असिक्नी :– शत्रु की मार अपने डेरे तक न पहुँचे, इसकी व्यवस्था करने वालो शाखा।

8–वितस्ता :– शत्रु का विविध प्रकार से क्षय करने वाली। अपनो मार दुर्ग या शिविर से शत्रु तक पहुँचाने वाली शाखा।

9– आर्जीकीया :-मार्ग में पर्वत-नदी आदि को बाधा निवारण करने वाली व सीधा मार्ग बनाने वाली शाखा।

10– मरुद्वृद्धा :–जहाँ सैनिकों की आवश्यकता हो वहाँ सैन्यवृद्धि करने वाली सुरक्षित सेना।

11- सुषोमा :– उत्तम विवेकवती सैन्य सचालन करने वाली शाखा।

सृष्टामा :– रोग उत्पन्न न हो सके, उसका प्रतिकार करने वाली शाखा।

13. सुसर्त्तू :– सुरक्षिततम मार्ग या समाचार देने वाली शाखा।

: तैत्तिरीयसंहिता 2-2-5-7

2. त्रिषप्तासो मरुतः 13-1-3

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस प्रकार इन्द्र नाम से राजा का वर्णन है उसी प्रकार मरुत् नाम से सैनिकों का वर्णन है। पाणिनि के अनुसार "मृङ् प्राणत्यागे" से मरुत् बनता है। जो मरने-मारने को तैयार रहे, उसे मरुत् कहेंगे। मरुद्-गण पर अपने निबन्ध में श्री डा० निगम शर्मा के अनुसार मृङ् धातु कान्ति अर्थ में भी होनी चाहिये, जैसा कि वेदमन्त्रों में मरुद्गण के साज-शृंगार का वर्णन किया गया है। प्रतीत होता है कि कामदेव के लिये प्रयुक्त मार शब्द भी इसका अपवाद नहीं है। सुन्दर स्वस्थ हृष्ट-पुष्ट, प्रसन्न, स्वाभिमानी वीर के लिये मरुत् का प्रयोग हुआ है।[1] उसी प्रकार से अग्नि के नाम से सेनापति का वर्णन हमें प्राप्त होता है। अथर्ववेद में अग्नि सम्बन्धी मन्त्र में स्पष्ट रूप से घोषित किया गया है कि सेनाध्यक्ष के रूप में आपको पाकर हम सम्पूर्ण शत्रुओं को जीत लें।[2] सेनापति के लिये हमें चमूषद्[3] शब्द भी प्राप्त होता है, जो अपने अर्थ को स्वतः ही स्पष्ट कर रहा है। सेनानी[4] शब्द भी सेनापति का ही नाम है। सेनापति के लिये एक अन्य नाम पत्नी-पति[5] भी प्राप्त होता है।

सेनापति के लक्षण बताते हुये कहा गया है कि यह शत्रु का हनन करने वाला, उत्तम वीर, सहनशील, वेगवान्, स्फूर्तिमय, बलवान्, उग्र तथा सेना के प्रति किये जानेवाली कृत्याओं को दूर करने में समर्थ हो[6]। सेनापति को तेजस्वी और दुष्ट के प्रति उग्र होना चाहिये। इसलिये मन्यु देवता के नाम से भी वीर सेनापति का वर्णन किया गया है। मन्यु शब्द की निरुक्ति करते हुये आचार्य यास्क कहते हैं कि मन्यु शब्द दीप्तिवर्धक या क्रोधार्थक या वृध्यर्थक मन् धातु से बनता है।[7] ये

1- ड० निगम शर्मा मरुद्गण- गुरुकुल पत्रिका तथा दैवतसंहिता
2- त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम। अथर्व 5.3.1
3- ऋग्वेद : 9.7,8.2 ,9 8.2
4- सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि। अथर्व० 4.3.1.2
5- पत्नीनां पतये नमः। यजु: 16.19
6- अथर्व 8.5.2
7- निरुक्त 10.3.18

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारी ही विशेषतायें किसी भी श्रेष्ठ सेनापति में होनी ही चाहियें। इसलिए अथर्ववेद में इसका प्रतिपादन है कि अग्नि को सबोधित करते हुये ऋषि कहते हैं-' हे मन्युरूप सेनापति। तुम्हारे साथ समान रथ पर बैठकर शत्रुओं के दुस्साहस को भंग कर देने वाले, प्रसन्न मन वाले, तीक्ष्ण वाणों एवं चमकते हुये शस्त्रास्त्रों से सम्पन्न अग्नि के समान तेजस्वी मरुत् के समान वेगवान् या मरणावस्था में भी उत्साह-सम्पन्न सैनिक आगे बढ़ते रहें। हे हमारे शक्तिशाली सेनानी! सग्राम भूमि में हमारे द्वारा पुकारे जाने पर आप आइये और शत्रुओं का वध करके हमें विजयी बनाइये। हे सबको वश में कर सकने में समर्थ सेनापति! आप अकेले अपने सामथ्य एवं आदेश से सारी सेना को वश में कर लेते हैं। आप का नाम सुनते ही शत्रु हृदय में भय धारण करके पराजित होकर भाग जावें। [1]

युद्ध में लड़ने के साथ ही सेनापति सेना को उत्साह से सम्पन्न रखे, यह भी उसका प्रधान कर्तव्य है। जैसे एक उत्तम वक्ता अपनी वाणी से श्रोताओं में मंत्र फूंक कर उन्हें उत्साह सम्पन्न बनाकर अपने अनुकूल कर लेता है, इसी प्रकार सेनापति को भी अपनी सेना को अपना और भी अधिक आदेश पालक एवं उत्साह सम्पन्न बना लेना चाहिए। [2] वह उन्हें उत्साहित करता हुआ कहता है कि ये दुर्बल शत्रु और इनकी सेनायें भी हमारा क्या बिगाड़ सकते हैं। [3]

हर सैनिक का मनोबल ऊँचा रहे। उच्च शौर्य और संकल्प से युक्त होकर ही सैनिक देश व जाति का मानवर्धन करता है। अतः सेनापति के वचन एवं कर्म में अनुरूपता होनी चाहिये। ऐसा कोई भी व्यवहार न करे, जिससे सैनिकों पर दुष्प्रभाव पड़े। अतः परस्पर प्रेम, क्रियाशीलता हो, जिससे उसे आदर्श मान कर सैनिक अपने जीवन एवं प्रभुता को उच्च बना सके।

सेनापति का सर्वथा प्रधान कर्त्तव्य है कि सेना की रक्षा करे। [4]

1– अथर्व 4.31
2– अथर्व 5.20.11
3– ऋग्वेद: 5.30.9
4–अथर्व 19.13.7

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि सेना की रक्षा होने पर ही राष्ट्र सुरक्षित एवं सुदृढ़ बना रहता है, जैसे कवच के भीतर योद्धा सुरक्षित रहता है। इसी प्रकार राष्ट्र को सीमा पर तुम्हें पाकर यह राजा और सभी देवजन एवं सम्पूर्ण प्रजाजन कवच की भाँति अपने को सुरक्षित समझते हैं।[1] हे वीर! यह राजा तुम्हें सर्वतोप्रमुखता प्रदान करे। तुम्हें राज्य की रक्षा के लिये प्रतिबन्धित करे, जिससे कि राष्ट्र के आयु, वर्चस्व, ओज एवं बल की वृद्धि हो।[2] जिस राष्ट्र की सीमायें सुरक्षित होती हैं, उसी राष्ट्र में प्रेम संस्कृति, कला एवं धर्म का उदय होता हैं। तथा नाना प्रकार के शिल्प एवं काव्यों की रचना होती है। इससे जनता के उत्साह एवं सौहार्द में वृद्धि होती है और वही राष्ट्र के ओज एवं धर्म की संस्कृति की आधारशिला बनती है।

इस स्थिति को उत्पन्न करने में राजा एवं सेनापति की एकमनस्कता सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उनके परस्पर मतवैभिन्न्य से राष्ट्र को गहरे गर्त में डूब जाना पड़ता है तथा राष्ट्र षड्यन्त्रों में उलझकर नष्ट हो जाता है। मिलकर चलने से उन्नति के शिखर पर आरूढ़ हो जाता है। इसलिये यजुर्वेद कहता है- 'इन्द्रस्य युज्यः सखा (10. 31)। सेनापति राजा का योग्य मित्र होता है। क्योंकि वे दोनों मिलकर ही शत्रु का वध करते हैं।[3]

राजा को चाहिये कि वह समय-समय पर वीर सैनिकों को पुरस्कृत एवं उनका आदर सत्कार करता रहे एवं पदक आदि से भी उनकी सम्मान वृद्धि करे। यह पदक उन्हीं विशेष वीरों को दिये जाते हैं जो सामर्थ्यवान्, शत्रु के विनाशक, शूरवीर एवं अपनी सेना की रक्षा करने वाले तथा राष्ट्र का अत्यन्त कल्याण करने वाले हों। यहमणि रूप पदक वीर राजा द्वारा वीरता के लिये ही उन्हें बांधा

1–अथर्व 19–30–3
2–अथर्व 19–46–1
3–उभा द्विवृत्रहन्तमा ।। अथर्व 7–110–1

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है। वही इस पदक को धारण कर सकता है, जो व्याघ्र या सिंह के समान बलवान् एवं वेगवान् हो, जैसे सिंह, छोटे-छोटे पशुओं को देखते ही समाप्त कर देता है, वैसे ही जो शत्रुओं पर टूट पड़े और उन्हें पराजित कर दे। राष्ट्र का कल्याण करने वाला तथा सम्पूर्ण प्रजाओं का अधिपति शत्रुनाशक वह इन्द्र अपराजित एवं सदा विजयशील है, अतः राष्ट्र को अभयदान देने वाले बलशाली तुमको स्वयं इन्द्ररूप राजा यह मणि बांधे' [1] स्वामी दयानन्द का मत है कि जो राजा, सुशिक्षित वीरों का सत्कार न करके सैनिकों का उत्साहवर्धन नहीं करते हैं, उनकी सर्वत्र पराजय होती है। [2] उनका संगठन सर्वत्र ही विशृङ्खल हो जाता है।

अतः शत्रुओं एवं राष्ट्र को हानि पहुँचाने वाले का विनाश भी आवश्यक हैं। उसमें भी सेनापति एवं सेना को सहयोग देना चाहिये। -'हे सेनापति ! जो सम्मुख होकर युद्ध करने वाला, बहुत रोगों से युक्त, शस्त्र लेकर तुम्हारे विरोध में उद्यत सेना है, जो चोर या तस्कर हैं, उन्हें हे सेनापति ! हम तुम्हारे निर्णय पर छोड़ते हैं। जो हमसे शत्रुता करें, द्वेष करें, निन्दा करें, हमें दम्भ दिखावें, हे वीर ! उन्हें भस्मसात् कर दो। [3] इन्हीं का विस्तृत वर्णन चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र के कण्टकशोधन अध्याय में किया है।

अपराध:—

आथर्वणिक राजनीति के अनुसार दुष्टों एवं शत्रुओं का विनाश कठोरता से किया जाना चाहिये, तभी राज्यव्यवस्था सुचारु रूप से चल सकती है। यदि दंड का भय न हो तो दुष्ट पुरुष सज्जनों का विनाश कर देंगे। जिससे धर्म का नाश एवं अधर्म की वृद्धि होगी। चाणक्य कहते हैं कि 'राजा को चाहिए कि वह दंडनीय को दड अवश्य देवे, तभी प्रजा धर्म, अर्थ और काम का पालन करती है। [4] अथर्ववेद में कहा गया

1– अथर्व.8.51,12.22
2– यजु० 5.37 के भाष्य में स्वामी दयानन्द
3- यजु० 11.77,80
4– कौटिल्य अर्थशास्त्र : 1.4.13-14

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि 'दुष्ट! तुम्हें मैं फिर से पाप करने के लिये नहीं छोड़ूँगा।[1] अपराधी पहली बार पाप करे, तभी उसे दंड मिल जाना चाहिये, जिससे उसकी प्रवृत्ति अपराध करने की न बने। यदि उस समय उसे दंड नहीं दिया गया तो समाज में अपराधियों की संख्या बढ़ती जायेगी। अतः दण्ड का उद्देश्य है कि दुष्टों को उनके मार्ग से हटाकर श्रेष्ठ मार्ग पर लाया जाये।[2] परन्तु जो बार-बार अपराध करते हैं और दण्ड से भयभीत नहीं होते, ऐसे समाज द्रोहियों को नष्ट कर देना चाहिए।[3]

अपराधियों और शत्रुओं दोनों को ही दण्ड देना चाहिये। अपराधियों के लिये न्यायालय होने चाहियें, जहाँ ज्ञानी पुरुष अपराधी से बहस करके सत्यासत्य का निर्णय करें। अवश्य उनमें जो सत्य पर हो उसे छोड़ देना चाहिये, जो असत्य पर हो उसे दण्ड देना चाहिये[4]। सत्यासत्य का परिज्ञान इसलिए भी आवश्यक है कि कोई दुष्ट बिना दण्ड पाये न छूट जाये तथा कोई निरपराध व्यक्ति दण्ड का भागी न बन सके, क्योंकि निरपराध को दण्ड देना बड़ा भयदायी होता है।[5]

सत्यासत्य को समझने के लिये शपथ एवं अभिशाप का भी प्रयोग किया जाता है। यदि मैं अपराधी हूँ तो आज ही मर जाऊँ और यदि मैं अपराधी नही हूँ तो मुझ पर दोषारोपण करने वाला मृत्यु को प्राप्त हो जावे। जो व्यक्ति कपटपूर्वक दूसरे को अपराधी बतावे अथवा जो दुष्ट स्वयं को निरपराध बतावे, ऐसे असत्य आचरण करने वाले को राजा के द्वारा कठोर दण्ड दिये जाने का विधान है।[6]

1- न पापत्वाय रासीय ।। अथर्व 20.82.1
2- यया दासान्यार्याणि ······करो । अथर्व 20.36.10
3- इन्द्रद्रुवो विनाशय । अथर्व 19.15.2
4- अथर्व 8 4.12,13
5- अनागो हत्या वै भीमा । अथर्व 10.1.29
6- अथर्व 8.4.15-16

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथर्ववेद दुष्टों के लिये कठोर दण्ड का विधान करता है जिससे दण्ड का भय समाज में बना रहे और व्यवस्था सुचारू रूप से चलती रहे। दण्ड से पूर्व उक्त अपराधी का पूर्ण परिचय दे देना चाहिए, जिससे किसी को किसी प्रकार का अन्यथा भ्रम न रहे।इस अमुक नाम वाले अमुक (माता-पिता) के पुत्र को जिसने अमुक अपराध किया है, यह दण्ड दिया जा रहा है। इसके अन्न एवं प्राणों को बांधा जा रहा है। [1]अर्थात् इसकी अन्नादि सम्पत्ति को जप्त किया जा रहा है, कठोर दण्ड का विधान वेद में किया गया है। विभिन्न अपराधों पर विभिन्न प्रकार के दण्ड दिये जाते हैं। जो झूठ बोलकर सत्य को छिपाना चाहता है या वाणी से चोरी करता है अर्थात् धोखा देता है, उसके मर्म स्थानों को बेधित कर दो। [2] गो, दुग्धादि की चोरी करने वाले का सिर काट दो। [3] कुछ अपराधों पर-हाथ पैर भी काट दिये जाते है। [4] काम या बलात्कार संबंधी अपराध पर नपुंसक भी बना दिया जाता है। इसके लिए औषध प्रयोग तथा लिग एवं अंण्डकोषों का छेदन भी कर दिया जाता है। [5] चाणक्य कहते हैं कि यदि कोई किसी के लिंग एवं अण्डकोषों को काट दे तो उस अपराधी के भी लिंग एवं अण्डकोष काट दिये जावे। जो पुरुष माता, बुआ, भाभी, आचार्याणी, पुत्रवधू, पुत्री, बहिन के साथ व्यभिचार करे तो उसका लिंग छेदन करके वध का दण्ड दें। [6] अथर्ववेद अपराध के जैसा ही दण्ड उचित समझता है। यदि अपराधी ने दूसरे व्यक्ति की जैसी हानि की है वैसी ही हानि अपराधी की भी की जानी चाहिये। ताकि ऐसे व्यक्ति इस प्रकार के भयकर अपराध

1– वही 10.5.44
2– ऋतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति। अथर्व 8.3.11,14
3– अथर्व 8.3.15
4– बाहून्प्रति भङ्ध्येषाम्।। अथर्व 8.3.6 ।।
5– वही 6.138.15
6– कौटिल्य अर्थशास्त्र 4.11.33तथा'4.13.42

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वरूप मिलने वाले दण्ड की परिणति को समझकर आतंकयुक्त क्रियाओं से दूर रहें ! इससे दंड कम को मिलता है, पर भय चारों ओर छा जाता है। भारतीय समाज में नाना प्रकार के जप-तप, प्रायश्चित्त समाज–निष्कासन, उपवास, व्रत आदि विभिन्न प्रकार के शारीरिक अथवा मानसिक दण्ड समाज को विकसित, व्यवस्थित करने के लिये वदिक काल से ही चलते आ रहे हैं।

शत्रु शमनः–

समाज को व्यवस्थित रखने के लिये सभी को परस्पर प्रेमपूर्वक रहना चाहिये। परन्तु यह आदर्श व्यवहार में पूर्णतः सफल नहीं होता। नाना प्रकार के मतभेद, ईर्ष्या, द्वेष आदि मानव मन में जन्म लेते हैं और परस्पर शत्रुता उत्पन्न हो जाती है। अतः हमें चाहिए कि हम किसी से द्वेष न करें। परन्तु यदि कोई हमसे द्वेष करता है, इस कारण हमारे मन में भी उसके प्रति द्वेष भाव उत्पन्न हो जाता है। तो हम उसे राजकीय न्याय पर छोड़ देवें। [2] अर्थात् राजा का कर्त्तव्य है कि वह उसका निर्णय करे।

राज्य के अन्दर प्रजा की पारस्परिक शत्रुता को तो राजा मिटा सकता है, परन्तु राज्य के शत्रुओं को तो सेनापति को चाहिए कि वह कठोरता से निममता पूर्वक नष्ट कर दे। ये शत्रु दो प्रकार के हो सकते हैं। एक वे जो स्पष्ट रूपसे शत्रुता रखते हैं। दूसरे वे जो हमारे सम्बन्धी या मित्र हैं, परन्तु गुप्त रूप से शत्रुता रखते हैं,उन शत्रुओं को नष्ट कर दो। [3] अथर्ववेद इसी बात को और भी अधिक दृढ़ता से कहता है कि जो दुष्ट हृदय वाला हमारा सबंधी बना हुआ शत्रु है, उसके सिर को हम अपने पराक्रम से काट डालें। [3]

यदि राज्य उन्नति करना चाहे, प्रजा को सुख देना चाहे तो सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये कि हमारे शत्रु हमारे पैरों के नीचे दबे रहें। [4]

1– अथर्व 3.2.7.1

2– जामिमजामिं प्र मृणीहि शत्रून् ऋक 4.4.5

3– अथर्व 10.6.1 4– अथर्व 1.9.2

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम शत्रुओं की सैकड़ों सेनाओं का एक साथ प्रतिरोध कर सकें। न केवल प्रतिरोध कर सकें अपितु उसको कठोर दण्ड देकर प्रतिशोध भी [1] ले सकें। शत्रु को पैदा होते ही नष्ट कर देना चाहिए। उन्हें अधिक बढ़ने का अवसर नहीं देना चाहिए। जब वे कमजोर हों, युद्ध में ठहर न सकें, तभी उन्हें नष्ट कर दें। जैसे बांस अंकुरित हो जाये तो समृद्ध होने से पूर्व ही उसे नष्ट कर दें। [2] बढ़ जाने पर बांस आग उत्पन्न करके अपने सम्पूर्ण ही वन को नष्ट कर देता है। इसी प्रकार इस प्रकार के शत्रु भी हानिकारक हो सकते हैं। अत: उन्हें इसका अवसर ही नहीं देना चाहिए कि वे बहुत हो जावें या शक्तिशाली हो सकें।

सदा यह प्रयत्न करना चाहिए कि शत्रु के हृदय में राजा का शौर्य-पूर्ण आतंक बना रहना चाहिए। यह प्रभाव विजय प्राप्ति में बहुत सहायक होता है। मनोबल न होने पर सुसाधन सम्पन्न एवं विशाल संख्या वाली एवं वीर सैनिकों से युक्त सेना में भी स्थायित्व नहीं आ पाता और भगदड़ मच जाती है। उन शत्रुओं के श्रेष्ठ आयुध भी धरे रह जाते हैं और वे किसी भी प्रकार का प्रतिरोध नहीं कर पाते। उस समय उनके भयभीत होने पर सेना के मर्मस्थल पर बाण-वर्षा कर देनी चाहिए। [3] शत्रु के भयभीत हो जाने पर और भय से कांपने पर अन्य आयुधोंसे आक्रमण करके उन्हें जीत लेना चाहिए [4], क्योंकि भयभीत शत्रु पर विजय सरल होती है। ऐसे स्थलों पर वेद उपदेश देते हैं कि हमारे शत्रुओं के हृदय भय से फट जावें, ऊपर के प्राण ऊपरही अटके रह जायें और मुख-सूख जाये। हमारे मित्रों के साथ इससे विपरीत ही हो। अर्थात् मनोदौर्बल्य उनके निकट ही न आ सके!

शत्रुसेना को संमोह में डालकर भी उन पर सरलता से विजय प्राप्त की जा सकती है। सेनापति को चाहिए कि वह शत्रुसेना को मुग्ध कर लेवे और मुग्ध अवस्था में ही उन्हें निःशस्त्र बना दिया जावे। [5] राजा शत्रुसेना को मूढ़ बना देवे और फिर हमारे सैनिक

1- यथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः। अथर्व 8 8.1

2- अथर्व 1.27.3

3- अथर्व 8.8.20

4- अथर्व 11 9.12

5- अथर्व 3.1.1

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी शक्ति से उन्हें समाप्त कर देवें, इस प्रकार शत्रुसेना को पराजित कर दिया जाये।[1] इन्द्र का मांया से घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋग्वेद भी इसकी पुष्टि करता है। वह कहता है कि हे राजन्! छलो शत्रु को छल से ही नष्ट करो।[2]

जब भी अवसर मिले, उसी समय शत्रु सेना को घेर लेना चाहिए। जिस समय वे पीड़ित हों, असमृद्ध हों, विना चेतावनी दिये ही थके हुये, सोते हुये, मूढ बने हुये,[3] उन शत्रुओं पर टूट पड़ना चाहिए। हमेशा अपनी सेना को इस प्रकार रखें कि शत्रु उसकी संख्या व शक्ति के बारे में कोई भी अनुमान न कर सके। अपनी संख्या एवं विशालता को बहुत ही बढ़ा कर शत्रु को प्रदर्शित करना चाहिये। इस प्रकार उन्हें मूढ़ता में डाल दिया जाये। उन्हें अन्धकार से आच्छादित कर दिया जाये कि शत्रु सेना की एक टुकड़ी अपनी दूसरी टुकड़ी की स्थिति को न जान पाये तथा परस्पर लड़कर समाप्त हो जावे।[4]

सेनापति को विजय घोष करना चाहिये कि मैं अकेला ही शत्रुओं को परास्त कर देने के लिए पर्याप्त हूँ, जैसे कृमियों के लिए सूर्य या गौओं के लिए व्याध हो। सैनिकों को देखकर शत्रु नीचा मुख करके वैसे ही भाग जाते हैं जैसे सिंह को देखकर कुत्ते उस स्थान पर नहीं मिलते हैं, दूर भाग जाते है।[5] न केवल शत्रु भाग ही जावें, अपितु भागकर छिप जावें और अपने छिपने के स्थानों से निकलने का साहस ही न करें। जब हमारी विजय दुन्दुभि बजे तो उसकी ध्वनि को सुनकर उसके भय से त्रस्त हुई शत्रु नारियाँ अपने पुत्रों के मरण भय से उनका हाथ पकड़ कर दूर भाग जावें।[6] भयभीत शत्रु पराजित होकर संग्राम की ओर उन्मुख न होवें।[7] युद्ध से भयभीत होने वाले कभी भी प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं कर सकते और मृत्यु को तो प्राप्त होते ही हैं।[8] अतः जब मृत्यु ध्रुव है तो जीवन में प्रतिष्ठा का त्याग नहीं करना चाहिए। यह निम्न गति हमारे शत्रुओं की ही हो। हम इससे सदा बचे रहें।

1— अथर्व 3.1.6, 6.67.2, 11.10.21
2— मायाभिरिन्द्र मायिनम्। ऋक् 1.11.7
3— अथर्व 88.9, 18
4— अथर्व 3.2.6
5— अथर्व 4.36.6
6— अथर्व 5.20.5
7— अथर्व 8.8.19
8— अथर्व 9.2.12

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो शत्रु भयभीत होकर युद्ध से भाग रहे हैं, उन्हें इतना अधिक भयभीत कर दें कि वे लौटने का विचार वैसे ही छोड़ दें जैसे बन्धन के टूट जाने पर धारा में बही हुई नौका पुनः लौट नहीं पाती है या धनुष से छूटा हुआ तीर वापिस नहीं आता है। इसी प्रकार जिस शत्रु सेना में भगदड़ मच जाती है वह शीघ्रता पूर्वक साहस एकत्र कर नहीं लौट सकती। परन्तु यदि शत्रु सेना में भगदड़ मच जाये तो भी निश्चित होकर नहीं बैठना चाहिये। अपनी सेना द्वारा शत्रु सेना का पीछा करना चाहिये जैसे शिकारी घायल पशु के पद चिह्नों के सहारे उसका पीछा करके उसको मार डालता है।[1] भागते हुये शत्रु सैनिक को दण्ड दें, उनकी हड्डी पसली तोड़ दे, यहाँ तक कि वे जीवित न रहें, उनके प्राण भी उनका साथ न दें।[2] इस प्रकार भागकर छिपे हुये शत्रुओं को चुन चुन कर, ढूंढ़ कर मृत्यु का मार्ग दिखा दें। इनमें से किसी को भी जीवित न छोड़ें।[3]

सेनापति को चाहिये कि जो हमारी सेना के मनोबल को तोड़ना चाहता है, उसे वज्र से ऐसे ही काट दे जैसे वृक्ष को काट कर[4] समूल नष्ट कर दिया जाता है। यदि शत्रु हमारे गाय घोड़े आदि पशुधन पर लोलुप दृष्टि रखे या हमारे वीर पुरुषों का वध करना चाहे तो उस दुष्ट को सीसे से बींध दो, जिससे वह हमारा कुछ भी न बिगाड़ सके।[5]

हे सैनिको राजा की आज्ञा पाकर तेजी से शत्रुओं की ओर दौड़ो और उन्हें ऐसे ही मथ कर व्याकुल कर दो जैसे भेड़िया भेड़ों को मथ डालता है। उन्हें जीवित मत छोड़ो।[6] जो हम पर सेना लेकर आक्रमण करना चाहता है, उन दुष्टों को मारकर आग में डाल दो। हम क्रव्यादाग्नि से इन शत्रुओं को भस्म कर दें। शत्रु जब हमारी सेना द्वारा बल पूर्वक मर्दित हो जाये और मरणोपरान्त चिरनिद्रा में सो जाये तो उन्हें भस्म कर दो। उनके भस्म होते समय अग्नि की लपलपाती जिह्वा और उठता हुआ धूमध्वज ही हमारी विजयी सेना का प्रतीक बन जावे।[7]

1— अथर्व 10.1.26 2— अथर्व 16.7.12-13
3— मामीषां मोचि कश्चन ।। अथर्व 11.9 20
4— वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षम् । अथर्व 2.12.3
5— अथर्व 1.16.4 6— अथर्व 5.8.4
7— अथर्व 13.1.29, 11.9.19

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हे राजन्! जो हमारे ऊपर आक्रमण करने के लिए सेना लेकर आवे, उसे युद्ध में घोर प्रहारों द्वारा बांध दो, जिसमें वह भयभीत होकर भाग जावे। जो न भाग सके उसे निःशस्त्र कर दो। पुनः उसके धनों को छीनकर अपनी सेना में बाँट दो।[1] जो शत्रु आत्मसमर्पण करके निःशस्त्र हो चुके हों, उन बल-वीर्य एवं उत्साह शक्ति से रहित सैनिकों के पैरों में बेड़ियां डाल दी जायें।[2] ये बेड़ियां लोहे की बनायी जाती हैं,[3] जिनसे शत्रु छूट न सकें और इस प्रकार मृत्यु के समान इन कठोर बन्धनों में शृंखलित हो जावें।

अथर्ववेद के ऋषि कहते हैं कि हे वीरो जब तुम सम्पूर्ण शत्रुओं को पददलित कर लोगे तभी इस राष्ट्र को उत्तम मधुर एवं कल्याणमय वाणी वाला बना सकोगे।[4] इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं।

जब दो सेनायें परस्पर युद्ध करती हैं तो दोनों ही सेनाओं की क्षति होती है। अतः युद्ध से पूर्व ही आत्म-सुरक्षा का प्रबन्ध कर लेना चाहिये, जिससे कि शत्रु हम तक पहुँच ही न सके और राष्ट्र में भय की भावना न फैल सके, जैसे कि सूर्य एवं चन्द्र भयभीत नहीं होते, ब्रह्म एवं साक्षात् क्षत्रियत्व कभी भयभीत नहीं होते। इस प्रकार हमारे प्राणों में भय की भावना न होवे।[5] राजा को भी यह विश्वास होना चाहिये कि हमारे राष्ट्र की सभी दिशायें सुरक्षित हैं। इस राष्ट्र में विचरण करते या विश्राम करते सभी अवस्थाओं में हम सुखी रहेंगे। हमारे सम्मुख या पृष्ठ भाग में, ऊपर या नीचे कहीं से भी हमें शत्रुभय नहीं है।[6] इस प्रकार का दृढ़ विश्वास समग्र राष्ट्र में उत्साह एवं अभिमान की भावना भर देता है, जो राष्ट्र की बहुमुखी उन्नति के लिए परमावश्यक होता है।

आयुध :—

भास्काचार्य का कथन है कि यज्ञ के संबंध से राजा स्तुति को प्राप्त करता है और राजा के संयोग से युद्ध के उपकरण स्तुति लाभ करते है।[7]

1— अथर्व 6.66.1, 3
2— सङ्गिनीरा सजन्तु बिगके वाहुवीर्ये ॥ अथर्व 5.21.10
3— अथर्व 6.63.2, 6.84.3
4— अथर्व 13.1.20 5— अथर्व 2.15.3–4
6— अथर्व 12.1.31–32
7— निरुक्त 9.2

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीति में युद्ध सम्बन्धी पदार्थों का एक महत्वपूर्ण स्थान है। विशेष कर युद्ध काल में वे सर्वाधिक महत्व की भूमिका निभाते हैं। इसीलिए प्रत्येक योद्धा अपने शस्त्र को अत्यधिक आदर एवं प्रेम प्रदान करता है। इसलिए शस्त्र को वे मित्र कहते हैं।[1] वैदिक संहिताओं में आयुधों में सर्वाधिक वर्णन वज्र और वाण का प्राप्त होता है।

वज्र इन्द्र रूप राजा का प्रमुख आयुध है, जिसके द्वारा वह अपने शत्रुओं का वध करता है। वज्र का आकार बताते हुए कहा गया है कि वह अत्यधिक चमकीला है तथा सैकड़ों नोकों वाला है।[2] यह बड़ा कठोर और लोहे का बना हुआ होता है। सायणाचार्य कहते हैं कि इन्द्र का यह वज्र अयस् धातु का विकार लोहमय है तथा अत्यधिक चमकीले वर्ण वाला है। लोहमय कठोर होने से वह नितरां कमनीय है।[3] अन्यत्र ऋग्वेदादि में भी इसके प्रमाण प्राप्त होते हैं।[4] उस इन्द्र के युद्ध करने के लिये त्वष्टा कारीगर ने दिव्य और बड़ा कार्य करने वाला वज्र वनाया।[5] त्वष्टा के वज्र निर्मातृत्व की पुष्टि तैत्तिरीय संहिता में भी की गई है।[6]

सामान्यतः सैनिकों का हथियार धनुष बाण है। धनुष की प्रशंसा अनेक स्थालों पर की गई है कि धनुष के आधार पर शत्रु भूमि को, गौ आदि पशुधन को जोत लेवें। इस धनुष से ही युद्ध जीता जाता है और तीव्रगामी तथा मदोन्मत्त शत्रुओं को पराजित किया जाता है। धनुष ही शत्रुओं की कामनाओं को समाप्त कर देता है। सम्पूर्ण दिशायें धनुष से जीती जा सकती हैं। यह तनी हुई ज्या (प्रत्यञ्चा) प्रिय मित्र के समान कान में कुछ कहती हुई सी, मानों कान का आलिंगन करके प्रिय एवं मधुर भाषण करती पत्नी के समान, संग्राम के पार उतारती है।[7] धनुष की प्रशंसा तब तक पूर्ण नहीं होती जव तक उसके साथ बाण की प्रशसा संयुक्त न हो जावे। जैसे बिना बाण के धनुष व्यर्थ होता है, वैसे ही उसकी प्रशंसा भी।

1— जामि ब्रुवत आयुधम्। अथर्व 20.138.3
2— शतानीका हेतयो अस्य ॥ अथर्व 20.51.4
3— अथर्व 20.30.3 की व्याख्या में सायणाचार्य
4— ऋक् 8.96.3 5— अथर्व 20.35.6
6— तस्मै त्वष्टा वज्रं आसिञ्चत। 2.4.12.2
7— यजु॰ 29.39-40। ऋक् 6.75.2-3

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हे उग्रबलशाली सैनिको ! अपने समर्थ भुजबल के आधार पर इस रणभूमि में आगे बढ़ो । तुम्हारे दृढ़ धनुष और तीक्ष्ण बाण इस अभागे शत्रु की कामनाओं को दलित कर दें ।[1] बाण की गति को तीव्र करने में उसकी तीक्ष्णता भी सहायक होती है, अतः कामनाओं को पूर्ण करने वाले इस बाण को तीक्ष्ण बनाओ । निरुक्तकार युद्धोपकरण प्रकरण में कहते हैं कि गत्यर्थक या वधार्थक इष् धातु से इषु शब्द सिद्ध होता है । यह बाण शोभन पंख धारण करता है । इस बाण का मृग के सींग का बना हुआ अग्रभाग है या इसका अग्रभाग खोजने वाला होता है कि मुझे किसको बींधना है । सरेश और चर्म से यह मढ़ा हुआ होता है । धनुष के द्वारा जोर से चलाया गया यह बाण दूर जाकर गिरता है और अपने लक्ष्य को बींध देता है । जिस संग्राम में मनुष्य परस्पर आघातों का आदान-प्रदान करने के लिए इकट्ठे होते है और फिर से बिखर जाते है, उस घोर संग्राम में हमारे लिये ये बाण ही शरणदायी बनें ।[2]

बाणों के अनेक आकार एवं नाम भी हमें प्राप्त होते हैं । ये नाम प्रायः आकार या गुण पर आधारित हैं । इनमें अयोमुख, सूचीमुख, विकङ्कतीमुख, क्रव्याद, एवं वातरंहस हैं ।[3] ये स्पष्ट ही लोहे की नोक वाले, सूई के समान नोक वाले, पक्षी की चोंच के समान नोक वाले, मांस में गहराई तक उतर जाने वाले एवं वायु के समान तीव्र गति वाले हैं । मृग के सींग के बने अग्रभाग वाले बाण की चर्चा हम कर ही चुके हैं ।

कभी कभी बाणों को विषदिग्ध करके भी प्रयोग किया जाता है ।[4] इषु आदि से शरीर में प्रविष्ट विष को निकालने के लिये भी अनेकत्र उपदेश एवं प्रार्थनायें उपलब्ध होती हैं ।

धनुष एवं बाण के संबंध को दीर्घकाल तक बनाये रखने में सबसे अधिक सहयोग देने वाला तरकस है । योद्धा की कार्य-सिद्धि के लिये संग्राम

1—अथर्व० 3.19.7
2—निरुक्त 9.2.14
3—अथर्व० 11.10.30
4—अथर्व० 4.6.6

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमि में तरकस भी उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना स्वयं बाण, क्योंकि अकेला बाण युद्ध के नैरन्तर्य को नहीं बनाये रख सकता। योद्धा जहाँ एक तीर हाथ में रखता है, वहाँ निषंग में अनेक तीर रख सकता है। इससे निषंग[1] का महत्व प्रतिपादित होता है। तरकस के लिये इषुधि शब्द का प्रयोग भी प्राप्त होता है। अर्थात् बाणों के रखने की जगह। ऋग्वेद का ऋषि घोषणा करता है कि 'यह तरकस बहुत से बाणों का पिता (पालक) है। अर्थात् इसमें बहुत से बाण रखे रहते हैं। यह उनकी रक्षा करता है। इसके बाण पुत्रों की संख्या बहुत है। यह युद्ध की चर्चा जान कर खोलने पर मानों पुंख की दीप्ति से हंसता है या चीं चीं करता है। पीठ पर बंधा हुआ, बाणों को छोड़ता हुआ, यह सभी युद्धों और सब सेनाओं को जीत लेता है।[2]

धनुषबाण और तरकस का यह संबंध 'हस्तघ्न' की अपेक्षा करता है। हस्तघ्न का शाब्दिक अर्थ है, जो हाथ में धारण किया हुआ धनुष की ज्या से चोट खाता है। अर्थात् योद्धा के हाथ को धनुष की डोरी की रगड़ से बचाने वाला दस्ताना। जैसे सांप मनुष्य के हाथ पर अपने फन की सहायता से लिपट जाता है, इसी तरह यह हस्तघ्न डोरी की चोट से रक्षा करता हुआ हाथ में लिपटा रहता है। सम्पूर्ण कर्त्तव्य या कर्त्तव्य का ज्ञान रखने वाला मनुष्य जैसे दूसरे मनुष्य की रक्षा करता है, इसी तरह यह हस्तघ्न भी सब ओर से योद्धा की रक्षा करे।[3]

शत्रु को बांध देने के प्रसंग में ऋष्टि एक मुख्य आयुध है। अथर्ववेद में एक स्थान पर हजारों भालों का विवरण प्राप्त होता है।[4] जहाँ हजारों भालों की सहायता से शत्रु का मान मर्दन करने की प्रार्थना इन्द्र से की गई है। ऋग्वेद में भी इन्द्र के अचूक भाले की सहायता की[5] कामना की गई है।

1—अथर्व० 19.13.4

2—अथर्व० 6.75.5

3—ऋक् 6.75.14

4—अथर्व० 19.66.1

5—अथर्व० 1.167.3

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तलवारों की झनझनाहट भी हमें वैदिक साहित्य में सुनाई देती है। इसका नाम हमें अनेक मंत्रों में मिलता है।[1] बुद्धि की सूक्ष्मता एवं दृढ़ता तथा पैनापन तो इसीसे उपमित होता है। हे देव! हमारी बुद्धि को लोहे की तलवार की धार के समान तीक्ष्ण बना दो।[2]

लोहे की तलवार की चर्चा केवल बुद्धि में ही नहीं, अपितु उत्तम लोहे की बनी हुई तलवारें घरों में रखी जाती हैं,[3] जिससे युद्ध के लिये तैयार रहें।

तलवार की भाँति परशु का भी प्रयोग होता है। एक स्थल में कहा गया है कि हे सेनापति! हमारे परशु तीक्ष्ण होवें। वे इन्द्र के वज्र से भी ज्यादा तीक्ष्ण होवें।[4]

अग्नि में तपा कर इस परशु को ऐसा तीक्ष्ण बना दो कि सेमल जैसा वृक्ष क्षण भर में कट जाये।[5]

'शूल'[6], अंकुश[7], लोहपाश एवं लोहजाल[8] आदि के संकेत भी हमें प्राप्त होते हैं। श्री जयदेव विद्यालंकार ने तो तोप आदि की भी सिद्धि का प्रयास किया है। वे कहते हैं 'जब आगे बढ़ने वाली विशाल (मण्डूरधाणिकी) लोहकणों को धारण करने वाली तोपें प्रयाण करती हैं, तब वीर राजा के समस्त शत्रु बुलबुले के समान नष्ट हो जाते हैं।[9]

1—अथर्व० 11.9.1., 20.126.18
2—ऋक् 6.47.10
3—अथर्व० 10.1.20
4—अथर्व० 3.19.4
5—ऋक् 3.53.22
6—अथर्व० 20.126.18
7—अथर्व० 20.5.4
8—अथर्व० 19,66.1
9—ऋक् 10.155.4 भाष्य में श्री जयदेव विद्यालंकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक विशेष प्रकार के महास्त्र की चर्चा है, जिसकी तुलना धुआँ उगलने वाले बम से की जा सकती है। अत्यधिक धूम उत्पन्न करके आँखों को शिथिल कर देने वाला वह महास्त्र शत्रु सेना में जा गिरे तथा भयंकर शब्द करे। इस प्रकार सेना के तीनों अंगों द्वारा शत्रु को जीत लेने पर लाल ध्वज उठा दिये जायें। हे महास्त्र! तू घोर अन्धकार से शत्रुओं को घेर ले और इनमें से कोई भी जीवित न रहे।[1]

इस प्रकार थोड़ी से लेकर अत्यधिक हानि करने वाले शस्त्रास्त्रों की चर्चा युद्ध के प्रसंगों में प्राप्त होती है। इनमें से कुछ का रूप तो स्पष्ट ही है। कुछ पर विद्वानों का मतभेद संभव है। परन्तु वैदिक आयुधों के संकेत विचारणीय हैं।

युद्ध सम्बन्धी पदार्थ :—

आयुधों के अतिरिक्त युद्धोपकरणों में रथ सर्वप्रथम परिगणित होता है। रथ शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए भास्कराचार्य कहते हैं- ''गत्यर्थक रंह् धातु से क्थन् प्रत्यय करके या स्थिर का उल्टा कर के (रस्थि से) या इस पर पुरुष रमणपूर्वक अर्थात हाथी या घोडे की अपेक्षा आराम से बैठता है अथवा शब्दार्थक रस धातु से रथ बना। क्योंकि यह चलता हुआ रथ शब्द करता है। हे लकड़ी के बने रथ! खूब दृढ़ अंगों वाला तू हमारा मित्र हो जा, क्योंकि तू संग्रामों में पार ले जाने वाला है। उत्तम कल्याण युक्त वीरों से अधिष्ठित है। चर्म और सरेस से खूब अच्छी तरह मढा हुआ है। तू वीरता का प्रदर्शन कर। तेरे ऊपर बैठने वाला योद्धा, जिन्हें जितना इष्ट है उन्हें जीत लेवे।[2] रथ बनाने वालों को रथकार या त्वष्टा कहा जाता है। अथर्ववेद में ऋषि इन्द्र की स्तुति करते हुए कहते हैं - हे इन्द्र देव! मैं आपके लिए वैसे ही स्तुति करता हूँ, जैसे त्वष्टा स्वामी के लिये रथ बनाता है।[3] प्रतीत होता है कि रथके प्रति प्रेम रखने वाले समृद्ध पुरुष रथ पर स्वर्ग भी जड़वाते थे। ऐसे स्वर्गजटित सैकड़ों रथों की[4] चर्चा अथर्व वेद में प्राप्त होती है।

1— अथर्व० 11.10.7,19
2—निरुक्त 9.2.7
3—अथर्व० 20.35.4
4—अथर्व० 20.131.5

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'तीव्रगामी दो घोड़ों का रथ उस वज्रधारी इन्द्र रूप राजा को युद्धस्थल में ले जाता है ।[1] अतः हे उग्रधन्वा शत्रुजित् ! विजय के लिये रथ पर आरूढ़ हो तथा शत्रुओं को चारों तरफ से घेरकर समाप्त कर दे ।[2]

रथ की सर्वप्रियता का एक कारण यह भी प्रतीत होता है कि आयुध के रूप में धनुष बाण अधिक प्रचलित थे । घोड़े या हाथी पर बैठकर धनुष का पूर्ण उपयोग नहीं हो सकता । पदाति भी धनुष का अधिक अच्छा उपयोग नहीं कर सकता । प्राय: देवताओं के वाहन रूप से रथ का ही विवरण प्राप्त होता है । चाहे वह यज्ञ में आ रहे हों या किसी अन्य उद्देश्य से उनको आमन्त्रित किया जा रहा हो ।

रथ के उपरान्त घोड़े का क्रम आता है, क्योंकि यह रथ में जुड़कर या सवारी के रूप में दोनों ही तरह से कार्य-सिद्धि में सहायक होता है। युद्ध के लिये सदा उत्तम घोड़ों को प्रयुक्त करें । वेद उपदेश देते हैं कि हे राजन् ! उत्तम वर्ण एवं स्निग्धता सम्पन्न घोड़ों पर बैठकर आओ[3] । केवल घोड़ों का आकार-प्रकार ही नहीं देखा जाता, उनके गुण-दोष भी विचारणीय होते हैं । इसलिये प्रयत्न पूर्वक घोड़ों को भी शिक्षित किया जाना चाहिये । अशिक्षित या अड़ियल घोड़े युद्ध में स्वपक्ष को ही पीड़ित कर देते हैं । इसलिये सेनापति को चाहिए कि विद्वानों द्वारा शिक्षित घोड़ों को रथी योद्धाओं के समान सेना में रखें ।[4]

यह घोड़ा गर्दन तथा मुख में बंधा हुआ प्रेरणा करते ही, चाबुक लगते ही चल पड़ता है तथा मार्ग की कुटिलताओं एवं विषम भूमियों को फांद जाता है । शीघ्र चलने रूपी अपने कार्य को लक्ष्य बनाकर या सवार की शीघ्रता को लक्ष्य करके उसे पूर्णता प्रदान करता है ।[5] घोड़ों के गुणग्राहीजन

1—अथर्व० 20.31.1
2—अथर्व० 19.13.8
3—अथर्व० 7.117.1
4—यजु० 13.37
5—ऋक् 4.40.4

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनको स्वर्णालंकारों से भी सुसज्जित करते हैं। ऐसे सैंकड़ों घोड़ों की ओर अथर्ववेद हमारा ध्यान आकृष्ट करता है।[1] घोड़ों का महत्व इसी से जाना जा सकता है कि वैदिक संहिताओं में घोड़े के पर्यायवाची रूप में छब्बीस शब्द प्राप्त होते हैं, जो निघण्टु में गिने गये हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न देवों के घोड़ों के पृथक् नाम भी प्राप्त होते हैं। इन्द्र के घोड़ों का नाम हरि है। अग्नि के लोहित और आदित्य के घोड़ों का नाम हरित है। अश्विनी को तो रासभ प्रिय है।[2]

यह घोड़ों का प्रकरण तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक कि लगाम एवं चाबुक पर विचार न कर लिया जाये, क्योंकि 'उत्तम सारथि जहाँ चाहता है, वहाँ वहाँ रथ पर बैठा हुआ ही, घोड़ों को आगे ले जाता है।' परन्तु इसे तो मैं लगाम की महिमा समझता हूँ। सारथि की नहीं। क्योंकि यह लगाम ही सारथि के मन के पीछे घोड़ों का नियमन करती है।[3] चाबुक के लिये अश्वाजनी एवं कशा ये दो शब्द प्राप्त होते हैं। हे चाबुक! तेरे द्वारा ये सारथि इन घोड़ों के उभरे हुए कटि प्रदेश पर चोट करते हैं और जघनस्थानों को पीटते हैं। तू युद्धों में घोड़ों को सारथि के इशारों को समझने वाला बना दे।[4]

हाथी का संकेत भी यदा कदा प्राप्त होता है। परन्तु यह पूर्ण निश्चित नहीं है कि उसका युद्ध में उपयोग होता था या नहीं। हाथी के सैंकड़ों स्वर्णजटित हौदों[5] का भी वर्णन प्राप्त होता है।

शत्रु के बाणों एवं भाले आदि से अपनी सुरक्षा अत्यन्त आवश्यक है। वैसे तो सम्पूर्ण शरीर ही सुरक्षित रहना चाहिये, परन्तु मर्मस्थलों की ओर पहले ध्यान दिया जाना जरूरी है। अथर्व वेद का ऋषि कहता है कि मै मर्मस्थलों की रक्षा के लिये तुझे कवच से आच्छादित करता हूँ।[6]

1—अथर्व० 20.131.5
2—निघण्टु 1'15
3—ऋक् 6.75.6
4—ऋक् 6.75.13
5—अथर्व० 20.131.5
6—अथर्व० 7,118.1

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ तक कि कवच रक्षा का प्रतीक ही बन गया है। अथर्ववेद के ऋषि की प्रार्थना है कि सारे भूतपदार्थ सब ओर से कवच की भाँति मेरी रक्षा करें।[1]

जो शूरवीर कवच धारण करके संग्राम में जाता है, वह मेघ के समान प्रतीत होता है। कवच युक्त योद्धा यदि अनामय शरीर से शत्रु पर विजय प्राप्त कर लेवे तो यह कवच की महिमा है, योद्धा की नहीं।[2] इसलिये हे मनष्यो! तुम वड़े वड़े मोटे और मजबूत कवच तैयार करो तथा अजेय लोह दुर्ग तैयार करो।[3]

कवच ओर दुर्ग दोनों ही रक्षा के साधन हैं। जहाँ कवच एक व्यक्ति की रक्षा करता है, वहाँ दुर्ग एक साथ ही हजारों सैनिकों की रक्षा करता है। इस प्रकार राष्ट्र एवं समाज की रक्षा करता है।

दुर्ग या घरों के निर्माण में लोह धातु का प्रयोग बहुतायत से होता है। इसलिये इनको आयसी या अयोमय ही कह दिया गया है। ऋग्वेद 8.93.2 में इन्द्र द्वारा शत्रुओं के निन्यानवे पुरों के भेदन का विवरण प्राप्त होता है। सैंकड़ों लोहपुरियाँ मेरी रक्षा करें, इस प्रकार की प्रार्थनायें संहिता साहित्य में अनेक स्थानों पर प्राप्त होती हैं।[4] कुछ दुर्ग पत्थर के भी बनते हैं। वामदेव ऋषि इन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि शत्रु की पत्थरों से बनी सैंकड़ों पुरियों से तोड़ दो।[5] ये किले बहुत विस्तृत एवं सुनियोजित ढंग से बनाये जाते हैं। सैंकड़ों भुजा वाले दुर्गों का वर्णन भी हमें प्राप्त होता है। इस प्रकार के सैंकड़ों भुजा वाले दुर्गों के द्वारा मरुत गणों से सुरक्षा की याचना की गई है।[6] इसके अतिरिक्त राजाओं को भी प्रेरणा दी गई है कि हे राजाओ! उपेक्षा रहित होकर तथा सतत जागरूक होकर सहस्रो खम्बों वाले ऐसे दुर्ग बनाओ, जो तुम्हारी व सैनिकों दोनों की रक्षा करने में समर्थ हों।[7]

1—अथर्व० 19.16.2
2—ऋक् 6.75.1
3—नृपाणो वर्मा सीव्यध्वं बहुला पृथूनि। पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा। अथर्व० 19 58.4
4—ऋक् 4.27.1
5—ऋक् 3.30.20
6—ऋक् 7.15.14, 1.166.8
7—ऋक् 5.62.6

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युद्ध में किये गये जयघोष एवं ऊँचे उठते आगे बढ़ते ध्वज अपने पक्ष को सुदृढ़ करते हैं तथा मनोबल को बनाये रखते हैं। इसलिये हे ऐश्वर्यशाली राजन्! तुम्हारी सेना के घोड़े एवं वीर सैनिकों का जयघोष, ध्वजों को धारण कर प्रसन्नता पूर्वक आगे बढ़े।[1] सेना की नाना टुकड़ियाँ जब अपने अपने ध्वज लेकर इकट्ठी हो जावें, तब हमारे बाण स्वतः ही शत्रु पर विजय प्राप्त कर लेवें।

युद्ध में वाद्यों का अपना अलग ही महत्व है। युद्ध के समय में इस प्रकार के वाद्य बजाये जाते हैं, जिनकी ध्वनि गम्भीर हो, सरलता से बजाये एवं लाये-लेजाये जा सकें तथा अधिक से अधिक क्षेत्र तक उनकी आवाज फैल सके। इस दृष्टि से तन्तु वाद्य, मुरली तथा जल-तरंग जैसे वाद्य सर्वथा अयोग्य हैं। उस समय दुन्दुभि जैसे वाद्यों का ही महत्व होता है, जिनकी ध्वनि वीर भाव भर देने वाली हो। जिससे सैनिक थकान एवं भय सर्वथा भुला कर पूर्ण सामर्थ्य के साथ शत्रु पर आक्रमण कर सकें और तब भी उत्साह एवं विजय के विश्वास से भरे रहें।

युद्ध वाद्यों में प्रायः दुन्दुभि का ही वर्णन प्राप्त होता है। उस पर अनेक सूक्तों में मंत्र प्राप्त होते है। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र सूक्त भी दुन्दुभि की स्तुति में प्राप्त हैं। दुन्दुभि लकड़ी की बनाई जाती है। उस पर चमड़ा चढ़ा कर कसकर बाँधा जाता है। इसलिये इसे द्रुवय तथा वानस्पत्य दोनों ही रूपों में वर्णित किया गया है। यह दुन्दुभि सिंह और वृषभ के घोष के समान घोष करती है। यह प्रायः गौ के चमड़े से मढ़ी जाती है।[2] युद्ध से पूर्व दुन्दुभि बजाकर युद्ध की घोषणा की जाती है। तब दोनों सेनायें एक दूसरे से टकराती हैं।[3] कालान्तर में यह स्थान शंख को प्राप्त हो गया।[4] परन्तु वैदिक संहिताओ में यह महत्व अन्य किसी को प्राप्त नहीं हुआ।

1—अथर्व 3.19.6

2—अथर्व 5.20.2 तथा 5.21.3

3—अथर्व 5.20.6

4—श्रीमद्भगवद्गीता 1.15

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हे दुन्दुभि! सेना तो बहुत बाद में कार्य करती है। शत्रु सेना को तो तू ही परास्त कर देती है । तेरे घोष को सुनकर ही युद्ध के कारण मृत्यु से भयभीत होकर शत्रु नारियाँ अपने पुत्रों का हाथ पकड़ कर दूर भाग जाती हैं । तेरा नाद इस पृथ्वी से ऊपर नभो मंडल में भी शीघ्र पहुँच जाता है। तेरी ध्वनि से वीरों के आयुध स्वतः ही ऊपर उठ जाते हैं तथा शत्रुओं का सामर्थ्य समाप्त हो जाता है । इससे हमें विजय प्राप्त होती है। अतः हे दुन्दुभि ! तू ही विजय का यश बाँटने वाली है। जैसे वक्ता श्रोता में मंत्र फूंककर उत्साह सम्पन्न कराता है, इसी प्रकार तू भी युद्ध में सैनिकों की मंत्रदाता वन और धैर्य के धनी शत्रुओं को भी च्युत कर दे ।[1]

शत्रुओं के मन में भय, सन्देह एवं उद्वेग को दुन्दुभि भर देती है। जैसे भेड़ बकरियां भेड़ियों से डरकर भागती हैं और वात से पक्षी डरकर पलायन करते हैं, इसी प्रकार तू भी सिंह के समान गर्जन करके शत्रुओं को मोहग्रस्त कर दे ।[2]

युद्ध वाद्यों में दुन्दुभि के बाद कहीं एकाध स्थान पर श्रृंग का भी नाम मिलता है ।[3] परन्तु कुछ विशेष विवरण उपलब्ध नहीं होता ।

युद्ध के प्रारम्भ में गुप्तचरी का भी बहुत महत्व है । उसी से शत्रु के बलाबल, उनके उद्देश्य आदि कीं जानकारी प्राप्त होती है । सामान्यतः वरुण के गुप्तचरों का वर्णन प्राप्त होता है। राजा को भी इस प्रकार के गुप्तचर और प्रतिगुप्तचर छोड़ने चाहियें, जिससे स्थिति के ठीक एवं शीघ्र तथा असंदिग्ध निश्चय किये जा सकें ।[4]

युद्ध के अनेक कारण हमें प्राप्त होते हैं। सामान्यतः वे प्रसंगों में संकेतित हो चुके हैं। परन्तु फिर भी उनका स्पष्टीकरण स्वयं में महत्वपूर्ण है। वेद का ऋषि कहता है कि इस युद्ध में कुछ भी प्रिय नहीं होता ।[5] फिर भी युद्ध के विना सम्पूर्ण समस्याओं का समाधान नहीं होता ।

1—अथर्व 5.20
2—5.2
3—शृङ्गं धमन्त आसते ।। अथर्व 20.129.10
4—प्रति स्पशो विसृज तूर्णितमो भव । यजु० 13.11
5—यस्मिन्नाजा भवति किंचन प्रियम ।। ऋक् 7.83.2

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युद्ध का सर्वप्रथम एवं सर्वतो मुख्य कारण आत्मरक्षा है। जिससे कि शत्रु हमें प्राप्त न कर सके। वह शत्रु चाहे हमारा सम्बन्धी होने से गुप्त शत्रु हो या प्रकट। उन दोनों को ही दूर रखना चाहिये। जो हमें साँस्कृतिक या शारीरिक रूप से दास बनाना चाहते हैं, इस प्रकार हमारा मानसिक वध करना चाहते हैं या सेना लेकर आक्रमण करना चाहते हैं, उन सभी को तुम पराजित करो[1] और राष्ट्र को सुरक्षित बनाओ। जो प्रजा की रक्षा करते हैं, बल की रक्षा करते हैं, राष्ट्र की रक्षा करते हैं,[2] वे सभी श्लाघनीय हैं।

शत्रुदमन भी युद्ध का प्रमुख कारण है। हे दुष्टो! अब और अधिक पाप करने के लिए मैं तम्हें नही छोडूँगा,[3] क्योंकि विना क्रोध के ये शत्रु मानते ही नहीं हैं। अतः युद्ध में क्रूरतापूर्वक वध इत्यादि आवश्यक हो जाता है।[4] तभी राजा राष्ट्र में अभय की भावना उत्पन्न कर सकता है।

राजा का कर्त्तव्य है कि वह दुष्टों को संगठित न होने दे। उनकी भूमि पर अधिकार करने के लिये भी युद्ध करना आवश्यक हो जाता है। ऋग्वेद में प्रार्थना की गई है कि हे इन्द्र! अत्यंत ऐश्वर्ययुक्त देशों की प्राप्ति के लिये युद्ध कर[5] जिससे कि शत्रु अपने ग्रामों एवं धन्यधान्य को छोड़कर भाग जावें।[6]

भूमि, गौ, आदि पशु एवं धनधान्य के अतिरिक्त यश की प्राप्ति के लिये युद्ध होते हैं। परन्तु प्रायः यश तो सभी युद्धों में समान रूप से मिलता ही है। किसी एक उद्देश्य से युद्ध प्रायः कम ही होते हैं, क्योंकि ग्राम, कीर्ति, श्रेय, वसु की प्राप्ति तो सभी युद्धों में हो जाती है।[7] अन्न व नाना प्रकार के धन भी युद्ध में मिलते है।[8] हे राजन्! युद्ध में प्राप्त धनों को शत्रुओं का वध करने के बाद प्रजा में बाँट दो।[9]

1—अरातिर्नो मा तारीत्। अथर्व० 2.7.4
2—अथर्व० 1.21.2, 6.6.3, 6.54.3
3—अथर्व० 19.15.2
4—अथर्व० 20.82.1
5—अथर्व० 20.105.2
6—ऋक् 8.96,16
7—अथर्व० 19.13.6, 5.20.9-10
8—श्रवो वसूनि संजितम्॥ ऋक् 9.7.9
9—हत्वाय शत्रून् विभजस्व वेद॥ ऋक् 10.84.2

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों पक्ष अपने जीवन एवं मरण को जानकर, पूर्ण सत्ता एवं सामर्थ्य के साथ युद्ध भूमि में एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिये, दंडित करने के लिये, समाप्त कर देने के लिये प्रयत्नशील हो जाते हैं ।

युद्ध के उपरान्त मृत व्यक्तियों के हाथ से हथियार लेकर **दोनों ही पक्ष** अपने-अपने योद्धाओं के शवों को जमीन में गाड़ देते हैं ।[1] फिर भी इस प्रकार के दृश्य प्रायः दिखाई दे जाते हैं कि किसी शव को कुत्ते या चील कोवें खा रहे हैं । मक्खियाँ भिनक रहीं हैं, कीड़े बिलबिला रहे हैं ।[2] इनमें बिना कवच वाले, कवच वाले, रथी, पदाति और घुड़सवार सभी होते हैं ।[3] जो वीर युद्ध भूमि में चिरनिद्रा में सो रहे हैं, वे भी बिंधे हुये एवं टुकड़े टुकड़े हुये पड़े हैं ।[4] इसीलिये ऋग्वेद में कहा गया है कि युद्ध में कुछ भी प्रिय नहीं होता ।[5]

सामान्यतः सभी देवता सम्पूर्ण कामनायें पूर्ण करते हैं । पर वैदिक संहिताओं के सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं ख्यात देवता किसी न किसी रूप में युद्धों से सम्बन्धित हैं । इन्द्र वैदिक भारतीयों के प्रिय राष्ट्रीय देवता हैं, इस तथ्य द्वारा ही इनके महत्व का संकेत मिल जाता है कि प्रायः 250 सूक्तों में इनकी महानता की प्रख्याति है । यह संख्या किसी भी अन्य देव को अर्पित सूक्तों से कहीं अधिक ही है, ऋग्वेद के समस्त सूक्तों की भी लगभग चतुर्थांश है ।[6]

यह इन्द्र ही सर्वाधिक शक्तिशाली है । उसका बल वर्णन करने योग्य है । उसके सभी कर्म बल के कर्म है । वह वज्र को धारण करने वाला है ।[7] शक्ति और पराक्रम में सभी देव इससे कम हैं । युद्ध द्वारा इन्होंने देवों के लिये पर्याप्त स्थान अर्जित किया है। केवल इन्द्र ही समस्त संसार के सम्राट् हैं । इन्हें

1—ऋक् 10.18.9-11
2—अथर्व० 11.9.9-10
3—अथर्व० 11.10.23-24
4—अथर्व० 11.10.25
5—यस्मिन्नाजा भवति किंचन प्रियम् । ऋक् 7.83.2
6—वैदिक माइथोलोजी—मैक्डोनेल—हिंदी अनु० पृ० 102
7—अथर्व० 2.5.5

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेक बार एक सार्वभौम सम्राट्—सर्वसत्ता सम्पन्न राजा कहा गया है।[1] यह सैकड़ों दुर्गों को तोड़ने वाला (ऋक् 10.111.10) है। इसका प्रमुख विशेषज्ञ है वृत्रहन्। यह शब्द ऋग्वेद में 70 बार इनके लिये प्रयुक्त हुआ है। इनकी एक विशेषता मरुतों का सांनिध्य भी है। प्रायः यही मरुद्गण इनके साथ दिखाई देते हैं, जो प्रायः सैनिकों के रूप में वर्णित हैं। इसलिये इन्द्र को सामर्थ्यशाली दुष्टों का कर्त्ता कहा गया है।[2]

इन्द्र के साथ इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी[2] भी वीर भावों से भर देने वाली है। अथर्ववेद में इन्द्राणी से सम्मुख आने की प्रार्थना की गयी है।[4] तैत्तिरीय संहिता में तो स्पष्ट ही उसे सेना का देवता भी कहा गया है इन्द्राणी वै सेनायै देवता 12.28 ।

अग्नि का यज्ञ सम्बंधी कार्यों के अतिरिक्त एक अन्य कार्य शत्रुओं एवं राक्षसों का वध भी है।[5] इनके पराक्रम पूर्ण कृत्यों से मनुष्य प्रकम्पित हो उठते हैं। युद्धों में इन्होंने देवों के लिये स्थान अर्जित किया। ये सहस्रों के विजेता हैं। और दस्युओं को गृहों से निष्कासित कर देते हैं। कभी-कभी इन्हें वृत्रहन् और दो या तीन बार पुरन्दर उपाधियों से भी विभूषित किया गया है।[6] अथर्ववेद में इन्हें क्षत्रियत्व का रक्षक ही कह दिया गया है। (7.84.1)

मन्यु भी युद्ध देवता कहे गये हैं। वे अग्नि के समान तीक्ष्ण, शत्रुवधकर्त्ता एवं विजयघोष करने वाले हैं। यहाँ तक कि इन्हें सेनानी शब्द का सम्बोधन भी दिया गया है।[7]

मरुद्गण कंधे पर ऋष्टि, पैरों में खादि, वक्ष पर स्वर्णमय अलंकार, हाथों में अग्निमय विद्युत और सर पर शिरस्त्राण धारण करते हैं।[8] ये इन्द्र के साथी

1—वैदिक माइथोलोजी-पृ० 109
2—अथर्व० 3.10.12
3—निरुत 11.27
4—अथर्व० 1.27.4
5—अथर्व० 2.6.3-4
6—वैदिक माइथोलोजी पृ० 186
7—ऋक् 10.84
8—ऋक् 5.54.11

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। वृत्र इत्यादि के साथ युद्ध में ये भी इन्द्र की सहायता करते हैं। सामान्य रूप में इन्द्र को राजा मानने पर इनकी सैनिकों की स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

रुद्र देव भी जहाँ भेषज प्रदान करने वाले हैं, वहीं वे शत्रु-नाशक भी हैं। ये मरुतों के पिता के रूप में प्रसिद्ध हैं (ऋक् 1.114.6,9)। ये प्रायः युद्धों के वर्णन में नहीं मिलते, परन्तु ऋग्वेद में इनके आयुधों का वर्णन हमें प्राप्त होता है। कहीं ये वज्रधारी हैं (ऋक् 2.33.3), कहीं धनुषबाण से युक्त धनुर्धर के रूप में चित्रित हैं। इसके अतिरिक्त इनके शस्त्र गदा इत्यादि का भी उल्लेख मिलता है।[1] इनसे देव सेना तथा अपने कल्याण की कामना तथा अभय की याचना की गई।[2] शत्रु–निवारण में ये सर्वदा सहायक होते हैं (अथर्व 1.19.3)।

इनके अतिरिक्त अन्य देवों से भी सुरक्षा की प्रार्थना की गई है। उदाहरणतः सोम, मित्रावरुणौ और वरुण[3] भी रक्षकों की पंक्ति में आते हैं। प्रायः सभी देवों के बारे में कहा जा सकता है कि 'न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन ।।[4]

1—अथर्व 11.2.12

2—अथर्व 11.2.31

3—अथर्व 1.20.1-3

4—अथर्व 1.20.4

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपसंहार

वैदिक साहित्य जिस समाज को प्रतिबिम्बित करता है, उसने अपने सर्वांगीण बिकास द्वारा मानवोय संस्कृति का आदर्श स्थापित किया है। जीवन के प्रत्येक अंग पर चिन्तन किया गया है। ऐहिक एवं पारलौकिकता के मध्य संतुलन स्थापित किया गया है। जीवन को ऐसे क्रमबद्ध किया गया है कि जिससे शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा का सम्पूर्ण विकास हो सके। वैदिक कार्य जहाँ अपने देवों से धन, बल, पुत्र इत्यादि की याचना करते हैं वहीं स्वर्गीय सुख एवं मोक्ष की कामना करते हैं। इस प्रकार औपनिषदिक श्रेय एवं प्रेय का सामंजस्य स्थापित किया गया है। सम्पूर्ण समाज को ऐसा व्यवस्थित किया गया है कि मानवीय गुणों का पूर्ण प्रचार एवं प्रसार हो सके। वहाँ व्यक्ति एवं समाज में टकराव की स्थिति ही नहीं आती ।

उन्होंने अनेकों युद्ध किये तथा राज्य और साम्राज्य भी स्थापित किये। इसके लिये दुष्टों तथा अपराधियों को अनेक बार पराजित भी किया। परन्तु अधिकार के लिये साम्राज्य स्थापित करना उनका उद्देश्य कभी नहीं रहा। उनका उद्देश्य था ''कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'' । अर्थात् अन्याय, अत्याचार, रोग, शोक एवं अज्ञान के विरुद्ध उठकर दृढ़तापूर्वक उसका विरोध करना। ऐसी मानवीय संस्कृति का विकास, प्रचार एवं प्रसार उन्होंने किया, जिससे विश्व में आसुरी प्रवृत्ति का दमन हो सके। आर्यों ने दण्ड को ही अंतिम रूप में स्वीकार नहीं किया। वह तो एक साधन मात्र है। दस्युओं को सुधार कर उन्हें समाज के गतिमय वातावरण में समुचित स्थान भी दिया गया।

इस निरन्तर चलने वाले दस्यु-दमन को अनेक रूपकों के माध्यम से प्रकट किया गया। वह दण्ड देने वाला व्यक्ति सबका नेतृत्व करने में समर्थ इन्द्र अर्थात् राजा है। राजा का यह परम कर्त्तव्य होता है कि राज्य लोक कल्याणकारी हो। लोक-कल्याण के मार्ग पर चलने के लिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्य एवं धर्म पर आधारित होना आवश्यक है । लोक-कल्याण के नाम पर व्यक्ति को हेय नहीं समझा गया । जैसा कि वर्तमान काल में लोकतंत्र के नाम पर समाज व्यक्ति पर पूरी तरह हावी हो गया है । सत्ता ने जनतंत्र, गणतंत्र के नाम पर व्यक्ति-स्वातंत्र्य को समाप्त कर मानवीय चेतना के विकास को अवरुद्ध कर दिया है । इसके साथ ही व्यक्ति को भी इतना स्वच्छंद नहीं किया कि वह अपने पाशविक बल के आधार पर समाज को आतंकित कर दे, जैसा कि भारतेतर प्राचीन विकसित राष्ट्रों-चीन, रोम, यूनान आदि में हुआ । इस श्रेष्ठ सामंजस्य का सम्पूर्ण श्रेय वैदिक ऋषियों को है, जिन्होंने राजा की शक्तिरूप निरंकुशता के साथ बल शक्ति का सुन्दर समन्वय कर राज्य-वृक्ष को दृढ़ता के साथ ही सुरुचिमय भी बना दिया । तभी उसका लोककल्याणमय रूप पल्लवित, पुष्पित एवं फलीभूत हो सकता है ।

सामान्य रूप से वैदिक संहिताओं में वर्णित राज्य पद्धति चाहे वह अध्यक्ष के रूप में हो या राजा के रूप में, कहीं भी पूर्णतः स्वतंत्र नहीं है । उसका आधार जनता है । समय के अनुसार वह चाहे राज्य हो या वैराज्य भोज्य हो या साम्राज्य, सभी जनता की आशा व अनुकूलता पर ही टिके हैं । उनका प्रमुख आधार है सत्य एवं धर्म पर आधारित नीति । कभी-कभी शत्रुओं के साथ छल छद्म युक्त व्यवहार भी होता है, पर सदा दुष्टों के साथ ही । मायावियों के साथ मायायुक्त व्यवहार ही समुचित है । क्योंकि "यो यथा वर्तेथा तस्मिंस्तथैव वर्तितव्यम स धर्मः ।" चाणक्य भी कहते हैं कि राजा को चाहिये वह चारों वर्णों की रक्षा के लिये मंत्र एवं विष औषध आदि प्रयोगों को अधार्मिक लोगों में ही प्रयुक्त करे । कौ० अर्थ १४-१-१ ।

वैदिक राजा शांति, व्यवस्था, सुशासन ऐश्वर्य, समृद्धि एवं बल का प्रतीक माना जाता है । क्षत्र शक्ति से सम्पन्न, तेजोमय व राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत राजशक्ति के दर्शन हमें इन्द्र देवता में होते हैं । इसे विद्वानों ने आर्यों का राष्ट्रीय देवता हो कह दिया है । इसी प्रकार अथर्ववेद (१२-१) को तो राष्ट्रीय गीत ही कह दिया है । यह एक ऐसा गीत है जिसके सम्मुख विश्व के सभी राष्ट्रों के राष्ट्र गीत फीके हैं । यह इतनी महान् उदाराशयता से भरा है कि सम्पूर्ण पृथ्वी के नागरिक उसे अपनी मातृभूमि के लिये गा सकते हैं । उसके द्वारा अपने राष्ट्र को स्वर्ग बना सकते हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैदिक राजा अपनी प्रजा का प्रतिनिधि होता है। सम्पूर्ण प्रजाजन उसका चयन करते हैं। इन चयन कर्त्ताओं में रथ हाँकने वाले, लोहार, बढ़ई, इत्यादि श्रमिकों से लेकर महान् मनस्वी बलज्ञानी भी होते हैं। वरण किये गये इस राजा का नाम भी वरुण है। इसलिये वरुण को बार-बार राजा वरुण, सम्राट वरुण इत्यादि विशेषणों से संयुक्त किया गया है। यह चयन दीर्घ अवधि के लिये होता है, संभवतः मृत्यु पर्यन्त। कर्त्तव्य च्युत होने पर राजा को उसके पद से हटाया जा सकता है।

चयन के उपरान्त उस पुरुष का राजपद पर अभिषेक होता है। उसे प्रजा के प्रति द्रोहभावन रखने की शपथ लेनी होती है। तब सिंहासन पर बिठाकर उसको नमन करने की परम्परा है।

राजा के कार्यों में राष्ट्र की रक्षा एवं प्रजानुरंजन सबसे प्रमुख हैं। राज्य को व्यवस्थित रखने के लिये वह दण्ड का प्रयोग करता है, जिससे कि उद्दण्ड होकर कुछ दुष्ट प्रजा को दूषित एवं दुःखी न करदें। दण्ड का उद्देश्य वह नही हैं, जैसा कि मैकियावेली जैसे पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक स्वीकार करते हैं कि व्यक्ति स्वभावतः कृतघ्न एवं स्वार्थी है। वह तो मानव को सदैव ही बुरा समझते हैं, अतः उसे वश में रखने के लिये दण्ड को ही एकमात्र साधन समझते हैं। दूसरी और भारतीय प्रजा ने उसे अच्छाई व बुराई का सम्मित्रण समझा। वह उसके उज्ज्वल पक्ष पर, नैतिकता एवं धार्मिकता पर भी विश्वास करता है। इसीलिये भारत में दण्ड विधान के साथ ही प्रायश्चित्त का भी प्रचलन हुआ।

युद्ध में सेना का नेतृत्व करना, वाणिज्य की वृद्धि करना, कृषि की उन्नति पर ध्यान देना, प्रजा को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस चतुर्वर्ग की ओर प्रेरित करना तथा इनमें सामंजस्य स्थापित करना, इस प्रकार सर्वविध प्रगति का सूत्र संचालन करना राजा का कर्त्तव्य है।

शासन में राजा की सहायता तथा उसे निरंकुश होने से रोकने के लिये तथा अन्यायी राजा द्वारा प्रजा को शोषण से बचाने के लिये सभा व समिति अत्यन्तमहत्वपूर्ण स्थान रखती है। इस सभा व समिति के माध्यम से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचार-विनिमय करके कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के निर्णय पर सरलता पूर्वक पहुँचा जा सकता है। ऋग्वेद के 'इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः'' को आधार बनाकर ही इन्द्र को सहस्राक्ष कहा गया है। इन सभासदों के आधार पर ही दो नेत्रों वाला इन्द्र सहस्राक्ष है। वही इनके वाणी रूप वर्चस्व को ग्रहण करता है।

पाश्चात्य चिन्तक हॉप्स, हीगल, बोसांके और मैक्यावली राष्ट्र-राज्य को ही मानव मस्तिष्क की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति मानते हैं। आज का राजनीतिक दर्शन भी राष्ट्र की सीमा से कठिनाई से ही बाहर जा पाता है। जहाँ गया है, वहाँ निरन्तर संघर्ष की स्थिति है। इधर वैदिक ऋषि राज्य से ऊपर उठकर साम्राज्य की सत्ता को स्वीकार करता है और वहीं पर इतिश्री नहीं हो जाती। वह तो विश्वसभा को भी प्रस्तावित करता है। तभी ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' की कल्पना को आकार मिल सकता है।

वैदिक युग में इन सभा व समितियों का राष्ट्रीय जीवन में इतना महत्वपूर्ण स्थान है कि इन्हें राजा की पुत्रियां ही कह दिया गया है और कहीं राजा को इन दो माताओं का पुत्र कहा गया है। जहाँ इन सभा-समिति तथा राजा के मध्य श्रेष्ठ एवं प्रोन्नत मानवीय भावों की अभिव्यक्ति है, वहाँ द्वेष एवं द्रोह को स्थान नहीं है। इन्हीं संस्थाओं द्वारा जनतांत्रिक वातावरण का निर्माण किया गया है। कुछ विद्वानों के मतानुसार गण वैराज्य, स्वराज्य इत्यादि शब्द गणतंत्रात्मक संविधानों के सूचक माने जाते हैं।

शासन को चलाने, उसे सुरक्षित रखने के लिये दृढ़ सेना का भी महत्व है। संहिताओं में इन्द्र-मरुत् सम्बन्धी सूक्तों में अलंकारिक रूप से सैनिकों के गुणों का वर्णन है, जो अत्यन्त दीप्तिमान्, उत्साही एवं युवा हैं। इन्हें मरुत् कहा ही इसलिये जाता है, क्योंकि ये सदा मरने मारने को उद्यत रहते हैं। ये ही राजा तथा राज्य को सुस्थिर करते हैं। सेनापति युद्ध काल में सैनिकों के आगे रहकर उन्हें उत्साहित करता है। यह राजा का परम मित्र है।

अपराधियों और शत्रुओं का कठोरता पूर्वक दमन किया जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके लिये अनेक युद्ध भी होते रहते हैं। युद्धों में दोनों ओर की धन और जन की हानि होती है। फिर भी विजेता को लाभ होता है। इसी लिए युद्ध में विजय प्राप्त करने वाले राजा से धन की याचना की जाती है। युद्ध में अत्यन्त भीषण दृश्य दिखाई देते है, फिर भी सैनिक अपने राष्ट्र एवं संस्कृति के लिए अन्याय को दूर करने के लिए इस युद्ध यज्ञ में आत्माहुति देते हैं। आयुधों में में बज्र, तलवार, धनुष-बाण इत्यादि प्रमुख रूप से प्रयुक्त होते हैं। युद्ध में रथ एवं घोड़े दोनों ही काम में आते हैं। धनुष–बाण का प्रयोग करने के लिये रथ ही श्रेष्ठ होते हैं। उनमें बहुत से बाण इत्यादि रखे जा सकते हैं तथा सुविधापूर्वक बैठा जा सकता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि वैदिक राजनीति और प्रशासन व्यवस्था का विकास प्राचीन भारतीय ऋषियों ने सर्वजन कल्याण के लिये विकसित किया था और यह वर्तमान समय में भी देश के कल्याण के लिये उपयोगी हो सतता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहायक ग्रंथ सूची

१—अथर्ववेद, सायण, जयदेव, सातवलेकर, ह्विटनी के भाष्य ।
२—ऋग्वेद सायण, जयदेव, स्वामी दयानन्द के भाष्य ।
३—यजुर्वेद स्वामी दयानन्द ।
४—तैत्तिरीय संहिता सायणाचार्य ।
५—शतपथ ब्राह्मण
६—ऐतरेय ब्राह्मण
७—तैत्तिरीय ब्राह्मण
८—गोपथ ब्राह्मण
९—ताण्डय महाब्राह्मण
१०—काठक शताध्ययन ब्राह्मण
११—तैत्तिरीय आरण्यक
१२—ऐतरेय आरण्यक
१३—बृहदारण्यकोपनिषद्
१४—मुण्डकोपनिषद्
१५—छान्दोग्योपनिषद्
१६—आथर्वणोपनिषद् सं० रामनाथ तर्करत्न
१७—नारायणोपनिषद् स्वामी विश्वेश्वरानन्द
१८—कौशिक सूत्र मॉरिस ब्लूमफील्ड
१९—वेतान श्रौतसूत्र विश्वबन्धु
२०—आपस्तम्ब सूत्र कपर्दी स्वामी
२१—मानव धर्मशास्त्र मेधातिथि भाष्य
२२—कात्यायन श्रौत सूत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२३—बौधायन श्रौत सूत्र
२४—बौधायन धर्म सूत्र
२५—मानव गृह्य सूत्र
२६—मीमांसा दर्शन जैमिनि
२७—वैशेषिक दर्शन कणाद
२८—न्याय दर्शन—गोतम
२९—योग सूत्र पतंजलि
३०—मनुस्मृति कुल्लूक भट्ट की टीका
३१—अत्रिस्मृति
३२—जाबालस्मृति
३३—याज्ञवल्यक्य स्मृति
३४—महाभारत शान्तिपर्व
३५—बाल्मीकि रामायण
३६—गुरु ग्रंथ साहब
३७—श्रीमद्‌भगवद्‌गीता
३८—भविष्य पुराण
३९—स्कन्द पुराण
४०—विष्णु पुराण
४१—मत्स्य पुराण
४२—मार्कण्डेय पुराण
४३—ब्रह्माण्ड पुराण
४४—वायु पुराण
४५—निरुक्त
४६—वाक्यपदीय
४७—महाभाष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४८—अष्टाध्यायी

४९—तन्त्रवार्तिक-कुमारिल भट्ट

५०—बृहद्देवता-शौनक-चौखम्बा अनु० रामकुमार राय

५१—चरक संहिता

५२—सुश्रुत संहिता

५३—अष्टांगहृदय

५४—वेदों में आयुर्वेद, रामगोपाल

५५—अथर्ववेदीय चिकित्सा शास्त्र, प्रियरत्न आर्ष

५६—कौटिलीय अर्थशास्त्र

५७—बृहन्नारदीय

५८—विष्णुतत्व निर्णय आनन्द तीर्थ

५९—इण्डियन विज्डम-मोनियर बिलियम-अनु० रामकुमार राय

६०—वसिष्ठसूत्र

६१—अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणी, रामगोपाल

६२—चतुर्वेदभाष्यभूमिका संग्रह-सायण

६३—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-स्वामी दयानन्द

६४—कामन्दक नीतिशास्त्र

६५—शुक्रनीतिसार

६६—चाणक्य सूत्र आर्य प्रकाशन मंडल

६७—नीतिवाक्यामृत सोमदेव सूरी

६८—नाटयशास्त्र भरतमुनि

६९—रघुवंश कालिदास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७०—पिंगल छन्दः सूत्रम्
७१—अथर्वप्रातिशात्य सं० विश्वबन्धु शास्त्री
७२—अथर्ववेदीय निघन्टु पं० राजाराम
७३—अहिर्बुध्न्य संहिता रामानुजाचार्य
७४—सर्वानुक्रमणी षड्गुरुशिष्य
७५—वैदिक सम्पत्ति रघुनन्दन शर्मा
७६—वैदिक सम्पदा वीरसेन वेदश्रमी
७७—वैदिकी डा० मुंशीराम
७८—अथर्ववेद एण्ड गोपथ ब्राह्मण ब्लूमफील्ड
७९—अथर्ववेदीय व्रात्यकाण्ड सम्पूर्णानन्द
८०—ऐतरेय आलोचनम् सत्यव्रत सामश्रमी
८१—ऐतरेय ब्राह्मण एक अध्ययन डा० नाथूलाल पाठक
८२—वैदिक माइथोलोजी—मेक्डानल अनु० रामकुमार राय
८३—वेदों का यथार्थ स्वरूप पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड
८४—वेद का राष्ट्रीय गीत आचार्य प्रियव्रत
८५—ऋग्वैदिक कल्चर ए०सी० दास
८६—वैदिक एज भारतीय विद्याभवन
८७—वैदिक इण्डेक्स कीथ व मैक्डानल
८८—संस्कृत ड्रामा कीथ
८९—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर मैक्समूलर
९०—रिलीजन एण्ड फिलासफी आफ वेद कीथ मोतीलाल बनारसी दास
९1—द कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया
९२—सम आस्पेक्ट्स आफ ऐंशेंट हिन्दु पालिटी डा० भाण्डारकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९३—वैदिक संस्कृति का विकास लक्ष्मण शास्त्री जोशी अनु० डा० मोरेश्वर

९४—शासन पद्धति प्राणनाथ विद्यालंकार

९५—प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थायें हरिदत्त वेदालंकार

९६—भीष्म का राजधर्म डा० श्यामलाल पाण्डेय

९७—मनु का राज धर्म वही

९८—मनु की समाज व्यवस्था सत्यमित्र

९९—वेदकालीन समाज शिवदत्त ज्ञानी

100—रामायणकालीन समाज शांति कुमार नानूराम व्यास

101—रामायणकालीन संस्कृत वही

१०२—राजनीति शास्त्र प्राणनाथ विद्यालंकार

१०३—बार्हस्पत्य राज्य व्यवस्था डा० राघवेन्द्र बाजपेयी

१०४—हिन्दू राज्यतंत्र रामचन्द्र शर्मा

१०५—वैदिक राजनीति हिन्दी समिति विहार

१०६—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति अनंत सदाशिव अल्तेकर

१०७—हिन्दुओं की राज कल्पना के०पी० जायसवाल

१०८—भारतीय समाज शास्त्र धर्मदेव सिद्धान्तालंकार

१०९—भारतीय संस्कृति का विकास वैदिक धारा मंगलदेव शास्त्री

११०—प्राचीन भारत की सामाजिक संस्कृति राम जी उपाध्याय

111—प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र डा० सत्यकेतु

११२—धर्मशास्त्र का इतिहास पी०वी० काणे

११३—वैदिक साहित्य और संस्कृति बलदेव उपाध्याय

११४—भारतवर्ष का इतिहास आचार्य रामदेव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

११५—वैदिक वाङ्मय का इतिहास भगवद्दत्त

११६—संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास वाचस्पति गैरोला

११७—प्राचीन भारतीय साहित्य विण्टरनिट्ज मोतीलाल बनारसीदास

११८—वैदिक संस्कृति गंगाप्रसाद उपाध्याय

11९—गुरुकुल पत्रिका

१२०—नवनीत

१२१—धर्मयुग

१२२—सा० हिन्दुस्तान

१२३—वैदिक धर्म

6704

पुस्तकालय
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

6704

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GURUKUL KANGRI LIBRARY
Accession 8/1/11
Class on
Cat. on
Tag etc.
Checked
Any Other

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar.